A CRITICAL EXAMINATION OF NYAYA INFLUENCES UPON VEDANTA PARIBHASHA

वेदान्तपरिभाषा पर न्याय प्रभाव की समीक्षात्मक परीक्षा

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि

हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता

राम कुमार गुप्त

निर्देशक

डॉ० नरेन्द्र सिंह

उपाचार्य, दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

1996

विषयानुक्रमणी

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

प्रस्तावना

प्राय: सुधी जन कार्य-अकार्य के प्रति संशयग्रस्त होते हैं । लेकिन, जैसे सरोवर में रहते हुए कमल-पत्र जल से अप्रभावित रहता है, वैसे ही ज्ञानी {संसार में रहते हुए} पाप-कर्म से असम्पृक्त रहते हैं । अतएव दर्शन की भारतीय परम्परा 'शब्दे निष्णात' और 'परे निष्णात' से गतार्थ होती है । 'वेदान्तपरिभाषा' इसी निष्णातता का प्रस्फुटन है ।

भारतीय चिन्तन का प्रारम्भ ऋग्वेद नासदीय सूक्त के रचनाकार परमेष्ठी से माना जाता है । इसकी परिणति उपनिषदों गीता और वेदान्त-सूत्र में हुई है । पश्चात्वर्ती ग्रन्थ इसी चिन्तन के विवर्त हैं । यह शोध-प्रबन्ध भी किसी नवीन मत के प्रतिपादन का दावा नहीं करता है । न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट ने कहा है--

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमा: ।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम् ।।

अर्थात् "हम कहाँ किसी नई वस्तु की उत्प्रेक्षा कर सकते हैं? पूर्वाचार्यों ने जो कहा है उसी को हम अपनी विदग्ध शब्दावली में कह रहे हैं? उसका विचार करें ।" श्रुति का वैलक्षण्य उसकी उस तर्कातीतता में निहित है जिसका संकेत लौकिक अनुभव में प्राप्त होता है । 'आम्नाय' में विभु-आज्ञा की भाँति सत्य प्रस्फुटित हुआ है, परन्तु मानवीय मनीषा ने अपनी सूक्ष्मतम् तर्कणा शक्ति से जितना ही अधिक उनका परीक्षण किया है, उतना ही अधिक उनकी सत्यता पूर्ण भास्वरता के साथ प्रकट हुई है । अत: भारतीय दर्शन में वेदान्तीय तर्क-विधाश्री अप्रतिम है । वह अपनी सूक्ष्मता एवं प्रौढ़ता के कारण सामान्य-बोध से असम्पृक्त है । इधर वेदान्त अपने लक्ष्य को अत्यन्त व्यावहारिक बताता है । उसका उद्घोष है कि मानव वर्तमान जीवन में अपने परम पुरूषार्थ-मोक्ष- को अधिगत कर सकता है । ज्ञान ही इसका ऋजु मार्ग है । मानव द्वारा अपनी व्यावहारिक दृष्टि में किंचित परिवर्तन किये जाने से अभीष्ट ज्ञान- प्राप्ति हो सकता है, क्योंकि उसकी {तत्त्वमसि} प्राप्ति अप्राप्ति की प्राप्ति नहीं है, वरन् प्राप्ति की ही प्राप्ति है/आज की वैज्ञानिक उपलब्धि ने मानव-बुद्धि को विशेषत: तार्किक बना दिया है । निराकृत हितावह सत्य भी

तर्क-परीक्षा में सफल हुए बिना आज के सामान्य जन को प्रभावित नहीं कर पाता है । अतः स्पष्ट है कि शाखावच्छेदेन भारतीय विचारधारा में विषमता है, किन्तु मूलावच्छेदेने में समता या एकता है ।

भारतीय चिंतन में 'वाक्' को समस्त विद्याओं का संयोजक सूत्र माना गया है । वह प्रस्फुटन भी है और प्रस्फुटन की प्रक्रिया भी है । वस्तुतः वाक् यथार्थ का ऐसा अमूर्तन है, जो यथार्थ के दृष्टिदोष से, श्रुतिदोष से मुक्त है, यह अमूर्तन प्रत्येक रचना के पहले रहता है और प्रत्येक संरचना के ग्रहण में साझेदारी का आधार होता है, यह अमूर्तन ही दर्शन की शब्दावली में अपरोक्षानुभूति है और प्रमाणमीमांसा की भाषा में 'मान' है । यह अपने आप में तीव्र अनुभव भी है, जैसे एकान्त में सुना हुआ शब्द और सूक्ष्म राग तूफानों की चीखों और नगरों की शोर शराबे से अधिक तीव्र होता है ।

वास्तव में भारतीय आस्तिक षड्-दर्शनों में न्यायदर्शन वैदिक वाङ्मय के वाकोवाक्' का परिवर्धन है । इस दर्शन की तार्किक विवेचना की प्रक्रिया समस्त दार्शनिक ग्रन्थों की उपजीव्य रही है, अतः अधिकांश दार्शनिक ग्रन्थ न्याय की तार्किक प्रक्रिया से परोक्षा-परोक्ष रूप से प्रभावित प्रतीत होते हैं ।तार्किक शिरोमणि धर्मराज अध्वरीन्द्र कृत वेदान्तपरिभाषा भी इसका अपवाद नहीं है । परिभाषाकार स्वयं अद्वैतवेदान्ती होते हुए भी न्याय के प्रकाण्ड विद्वान थे । अतः अद्वैत वेदान्त की विषयवस्तु से साक्षात् सम्बद्ध होते हुए भी उनका यह ग्रन्थ न्याय-दर्शन से भृश प्रभावित है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्रणयन इसी प्रभाव को सुस्पष्ट करने के उद्देश्य से किया गया है । जिसके स्पष्टीकरण होने से विविध दार्शनिक जिज्ञासाओं की शान्ति हो सके तथा विद्वतजन न्याय दर्शन व अद्वैत-वेदान्त से सम्बन्धित प्रसंगों का एकत्र ज्ञान प्राप्त कर सकें, यही हमारा प्रयास एवं आकांक्षा इस शोध-प्रबन्ध

की रचना में अनुस्यूत है ।

"वेदान्तपरिभाषा पर न्याय प्रभाव की समीक्षात्मक परीक्षा" संज्ञक इस शोध-प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभाजित किया गया है । इसके प्रथम अध्याय में न्याय दर्शन और वेदान्त दर्शन के सम्बन्धों की ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि की विवेचना की गयी है । द्वितीय अध्याय में परिभाषाकार धर्मराज अध्वरीन्द्र के योगदानों की समीक्षा की गयी है । तृतीय अध्याय में वेदान्तपरिभाषा की प्रमाणमीमांसा पर न्याय-प्रभाव की समीक्षा की गयी है । चतुर्थ अध्याय वेदान्त-परिभाषा के प्रमाणेतर पदार्थों पर नैयायिक प्रभाव का निरूपण करता है । पंचम अध्याय प्रमा और भ्रमा के विषय में धर्मराज अध्वरीन्द्र के मत का निरूपण करते हुए उस पर न्याय-प्रभाव का विवेचन करता है । छठें अध्याय में सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध का उपसंहार प्रस्तुत करते हुए उसकी मौलिकता को स्पष्ट किया गया है ।

मैं उन सब पौरस्त्य और पाश्चात्य, प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों का उपकृत हूँ जिनकी कृतियों से या जिनसे मुझे उत्साह, शक्ति और सहायता मिली है । सर्वप्रथम अपने इस शोध-प्रबन्ध के मार्ग निर्देशक विद्वद्वरेण्य गुरुवर्य डा० नरेन्द्र सिंह के चरणों में हार्दिक प्रणाम निवेदित करता हूँ, जिनके वैदुष्य पूर्ण कुशल मार्ग निर्देशन में यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण हो सका । इसी परिप्रेक्ष्य में गुरुवर्य प्रो० देवकी नन्दन द्विवेदी विभागाध्यक्ष, दर्शन-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय को अपनी प्रणामांजलियाँ समर्पित करता हूँ, जिनसे प्राप्त सहायता तथा स्नेह अनेक समस्याओं के बीच भी शोध कार्य को गति प्रदान करता रहा। मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ ।

पूज्य गुरुवर्य प्रो० एस०एस० राय (भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) ने अनेकशः दार्शनिक समस्याओं के समाधान में मेरी जो सहायता की; वह उनकी दार्शनिक गरिमा तथा उदारता का द्योतक है । एतदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

पूज्य गुरुवर्य प्रो0 जे0एस0 श्रीवास्तव (भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) ने अद्वैत वेदान्त की ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी समस्याओं के समाधान में अतुलनीय सहायता की, मैं उनके प्रति श्रद्धानत हूँ ।

प्रो0 आर0एल0 सिंह, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, से प्राप्त सहायता तथा स्नेह शोध-प्रबन्ध के अनुशीलन में उपादेय सिद्ध हुआ , मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ

डा0 जटाशंकर त्रिपाठी, प्रवक्ता दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने जो समय-समय पर मेरा मार्ग निर्देशन करते रहे, यह उनकी सहृदयता का प्रतीक है। मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ ।

डा0 हरिशंकर उपाध्याय, प्रवक्ता दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के असीम स्नेह तथा दिशा निर्देश के बिना यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण करना मेरे लिए कठिन था, उनकी यह सद्वृत्ति महाकवि तुलसीदास के इस पंक्ति 'सन्त हृदय नवनीत समाना' के सर्वथा अनुरूप है । उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन में उपयुक्त शब्द मेरी कल्पना में नहीं, केवल सश्रद्ध प्रणाम ही निवेदित है ।

न्यायाचार्य डा0 किशोर नाथ झा, गंगानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृत, विद्यापीठ, इलाहाबाद ने शोध-प्रबन्धगत विषयक अनेक दार्शनिक गुत्थियों के स्पष्टीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, जिनके सहयोग के अभाव में मेरे लिए यह कार्य पूर्ण करना दुष्कर था । मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ ।

डा0 दुर्गा प्रसाद त्रिपाठी (संस्कृत) ने शोध-सामग्री के संकलन में अनेक विधि सहायता की है । तथा महत्त्वपूर्ण सुझावों द्वारा मुझे लाभान्वित किया है । उनका यह योगदान चिरस्मरणीय रहेगा ।

अन्त में इलाहाबाद विश्वविद्यालय व दर्शन विभाग के पुस्तकालयाधिकारियों व कर्मचारियों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने समय से पुस्तकें उपलब्ध करायीं ।

सुललित टंकण हेतु श्री गिरीश चन्द्र पाण्डेय का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने टंकण की शुद्धता एवं स्पष्टता का अधिक ध्यान रखा है । तथापि चेतन तथा अचेतन के योग से निष्पन्न कार्य सर्वथा अत्र्युटि होना दुष्कर ही है, अतः अवशिष्ट अशुद्धियों के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ ।

यदि सुधीजनों को इस शोध-प्रबन्ध में दोषों के बावजूद कोई गुण दिखाई दे, तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा । 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते'।

पौष कृष्ण तृतीया
2050 वि0स0
प्रयागराज

विद्वदनुचर

राम कुमार गुप्त
आर्य समाज मंदिर, 641, कर्नलगंज,
इलाहाबाद-211002

प्रथम अध्याय

न्याय-दर्शन एवं वेदान्त-दर्शन

(i) न्याय-दर्शन के आचार्य एवं साहित्य

(ii) वेदान्त-दर्शन के आचार्य एवं साहित्य

(iii) तत्त्व-ज्ञान

(iv) मोक्ष

न्याय-दर्शन एवं वेदान्त-दर्शन

भारतीय-मनीषा अत्यन्त कुशाग्र तथा मर्मस्पर्शिनी है । इसी मनीषा के बल पर विश्वरूप से स्थित पदार्थ की केवल आकृति का ज्ञान ही नहीं, अपितु उसकी प्रकृति एवं संचालिका चेतना-शक्ति के संयोगात्मक ज्ञान का दर्शन भी उसने पाया । भारतीय ज्ञान-विज्ञान की प्राय: सभी शाखाओं के विकास में अपरोक्ष या परोक्ष रूप से वैदिक ऋषियों की अमरवाणी को जिस प्रकार प्राय: प्रेरणास्रोत के रूप में स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार भारतीय लौकिकवाड्.मय में उपलब्ध लगभग सभी संकल्पनाओं को परिभाषित करने का आधार "न्याय" माना जाता है । भारतीय दर्शन के परिशीलन से ज्ञात होता है कि 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' सभी दर्शनों के लिए केवल न्याय और मीमांसा इन दो शब्दों का प्रयोग करती है ।[1] इसी तरह डा० गंगानाथ झा मानते हैं कि सभी दर्शनों का वर्गीकरण न्याय और मीमांसा के अन्दर हो सकता है ।[2] न्याय के अन्दर वे दर्शन हैं जो कि तर्क से उत्पन्न हुए हैं । इस दृष्टि से चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक न्याय हैं । इनकी रचना प्रत्यक्ष और और अनुमान के आधार पर की गयी है । फिर पूर्वमीमांसा (मीमांसा) और वेदान्त-मीमांसा है । इनकी रचना वेद और उपनिषद् के वाक्यों की छानबीन, गवेषणा या मीमांसा करके की गयी है । वास्तव में न्याय और मीमांसा दो प्रणालियाँ हैं । न्याय-प्रणाली में 'इतिसिद्धम्', 'तस्मात् सिद्धम्' अत: यह सिद्ध हुआ इत्यादि उपसंहार के वचन हैं । मीमांसा-प्रणाली में जान गया', इससे सबका व्याख्यान हो गया (एतेन सर्वे व्याख्याता:) आदि उपसंहार के वचन हैं ।

पुन: व्यावहारिक जीवन में 'न्याय' शब्द का प्रयोग पद्धति या नियम के अर्थ में दृष्टिगोचर होता है, जैसे- काकतालीय-न्याय, सूचीकटाह-न्याय इत्यादि । इसी आधार पर उन सामान्य नियमों को न्याय कहा जाने लगा जिनका ब्राह्मण वाक्यों के लिए पूर्व-मीमांसा में अनुसंधान किया गया था । इसीलिए प्राचीनकाल में मीमांसा के लिए 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा । पूर्व-मीमांसा के अनेक ग्रन्थों में विशेषण रूप में 'न्याय' शब्द सम्बद्ध है, जैसे 'न्यायकणिका', 'न्याय-

रत्नमाला', मीमांसा-न्यायप्रकाश इत्यादि । अतः प्राचीनकाल में 'न्याय' शब्द का प्रयोग तर्कविद्या और नियम के लिए किया जाता था । यह 'पूर्व-मीमांसा' इसलिए कहा जाता है कि दर्शन-शास्त्र में 'ज्ञान' का विचार करने के पूर्व 'कर्मकाण्ड' तथा धर्म का विचार करना आवश्यक है, तभी वेदान्त में कहे गये 'आत्मा' के सम्बन्ध में विचारों को साधक समझ सकेगा । अतएव मीमांसा को 'पूर्व'-मीमांसा कहा गया है और वेदान्त को 'उत्तर'-मीमांसा कहा गया है । इस बात की पुष्टि कुमारिल भट्ट के 'इत्याह नास्तिकय-निराकरिष्णुः', इत्यादि कथन से भी होती है । अतः न्याय-दर्शन तथा वेदान्त-दर्शन के सम्बन्धों की ऐतिहासिक जानकारी हेतु दोनों के आचार्य एवं साहित्य का विवेचन अपरिहार्य हो जाता है । इस अध्याय में हम मुख्यतः वेदान्त-दर्शन एवं न्याय-दर्शन के आचार्यों एवं उनकी कृतियों के अतिरिक्त उनके तत्त्व-ज्ञान तथा मोक्ष का विवेचन करेंगे ।

§1।1§ न्याय-दर्शन के आचार्य एवं साहित्यः-

'न्याय-दर्शन' के विधिवत प्रणयन का श्रेय यों तो महर्षि गौतम को है; किन्तु उनके बहुत पहले उपनिषद्-काल से ही वाद-विवाद के रूप में न्याय की चर्चा होती रही है । छान्दोग्य उपनिषद् में पठनीय विषयों में 'वाकोवाक्य' नामक विद्या का उल्लेख है ।[3] किन्तु उस 'वाकोवाक्य' का क्या रूप था, यह निर्णय कर पाना कठिन है । यद्यपि 'वाकोवाक्य' शब्द को कतिपय आचार्य 'तर्कशास्त्र' का पर्याय मानते हैं वाकोवाक्यं तर्क शास्त्रम् । शांकरभाष्य में भी इस शब्द का अर्थ 'तर्कशास्त्र' बताया गया है । बाल्मीकि रामायण में हेतु विद्या या तर्कशास्त्र के अर्थ में 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग हुआ है । महर्षि वात्स्यायन के अनुसार 'प्रत्यक्ष और आगम' से ज्ञातव्य पदार्थ को भली-भाँति देखने का नाम अन्वीक्षा §अनु=पश्चात्+ ईक्षा= देखना) है और इस प्रक्रिया पर आधारित शास्त्र आन्वीक्षिकी कहलाता है । इसी को न्याय-विद्या, तर्क-विद्या और न्याय- शास्त्र कहा जाता है ।[4] उपनिषदों में मुख्यतः 'आत्मविद्या' का प्रतिपादन हुआ है । डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण मानते हैं कि वेदों और उपनिषदों में चर्चित 'आत्मविद्या' ही बाद में आन्वीक्षिकी कहलाने

लगी । आत्मविद्या और आन्वीक्षिकी में यह अन्तर अवश्य है कि आत्मविद्या में आत्मा के सम्बन्ध में कुछ सैद्धान्तिक बातें कही गयी हैं, जबकि आन्वीक्षिकी में उन कथनों के साथ कारण भी बताये जाते हैं । इस तरह आन्वीक्षिकी के दो प्रधान विषय हो गये-- आत्मा और हेतु (आत्मा की समर्थक युक्तियाँ) । इसलिए डा० विद्याभूषण ने महर्षि वात्स्यायन के इस विचार का भी अपने मत के समर्थन में उल्लेख किया है कि हेतु की चर्चा के अभाव में तो आन्वीक्षिकी भी केवल उसी प्रकार आध्यात्म विद्यामात्र रह जायेगी, जैसे कि उपनिषद् हैं ।[5] आत्मा के अस्तित्व या अनस्तित्व के सम्बन्ध में सांख्य, योग और बौद्ध दर्शन में भी अनेक युक्तियाँ दी गई हैं, अतः विद्याभूषण का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि आन्वीक्षिकी के दो आधारभूत घटकों में से आत्मा के विश्लेषण ने 'दर्शन' का और हेतु के विश्लेषण ने न्याय-दर्शन का रूप धारण किया । हेतु को आधार मानकर चलने के कारण इसको हेतुशास्त्र, तर्क पर बल देने के कारण तर्कशास्त्र या तर्कविद्या तथा प्रमाणों के विश्लेषण में अधिक सन्द्ध होने के कारण इसे प्रमाणशास्त्र या प्रमाण-मीमांसा भी कहा जाता है । फिर भी आनुषांगिक रूप में दार्शनिक तत्त्वों का भी इसमें विवेचन होता रहा है और षड् आस्तिक दर्शनों में इसे भी एक स्थान दिया जाता है ।

पुनश्च, प्रत्येक क्रिया के बराबर तथा विपरीत प्रतिक्रिया होती है । महान् वैज्ञानिक न्यूटन द्वारा प्रतिपादित इस नियम की भाँति न्याय-दर्शन का भी प्रणयन दृष्टिगोचर होता है । बौद्ध लोग आस्तिक सिद्धान्तों के विरूद्ध अपने मतों का प्रतिपादन करते थे । इसी के निरोध में ईसा पूर्व छठी शताब्दी में महर्षि गौतम ने न्याय-सूत्रों की रचना करके तत्त्व-निर्धारण की एक विशेष पद्धति स्थापित की, जिसके द्वारा बौद्धों के कुर्तक रूपी पंक से वैदिक संस्कृति की रक्षा हो सकी । इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यह विपक्षियों के मत के खण्डन के लिए बनाया गया था । अतएव इसमें 'वाद', 'जल्प', 'वितण्डा', 'हेत्वाभास', 'छल', 'जाति' तथा 'निग्रहस्थान' इन विषयों का विस्तार पूर्वक विचार किया गया है । लेकिन न्याय-सूत्र का लक्ष्य बौद्ध मत का निराकरण करना ही नही था, बल्कि अन्य दर्शनों की

भाँति इसका भी लक्ष्य दुःख निवृत्ति अथवा निःश्रेयस की प्राप्ति था । फिर भी इसमें 'वाद' आदि उपर्युक्त विषयों का समावेश किसी विशेष कारण से ही हुआ होगा, इसमें संदेह नहीं । वह कारण था — बौद्धों के मत का खण्डन करना ।

इस प्रकार न्याय-सूत्र बहुत प्रसिद्ध और विपक्षियों के मत के खण्डन के लिए एक अमोघ अस्त्र का काम देने लगा । अन्ततोगत्वा बौद्धों ने नाना प्रकार से इस ग्रन्थ को नष्ट करने का प्रयत्न किया । स्वकल्पित सूत्रों को गौतम के सूत्रों में मिलाकर प्रचार करना, इस ग्रन्थ के कुछ अंशों को निकाल कर हटा देना, सूत्रों को उलट-पुलट देना, आदि अनेक प्रकार से ये लोग ग्रन्थ को दूषित करने लगे । इसलिए आस्तिक विद्वानों को विशेष रक्षा करनी पड़ी । अनेक बार सूत्रों का उद्धार किया गया । अन्त में वृद्ध वाचस्पति मिश्र (प्रथम) ने 'न्यायसूचीनिबन्ध' नामक एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें न्यायसूत्रों के शुद्ध पाठ का उद्धार किया और सूत्रों को, प्रकरणों को तथा अक्षरों तक को, गिनकर लिपिबद्ध किया । इसी से हमें मालूम होता है कि न्याय-सूत्र में 5 अध्याय, 10 आह्निक, 84 प्रकरण, 528 सूत्र, 196 पद तथा 8385 अक्षर हैं । इस प्रकार की आपत्ति अन्य किसी भी दर्शन के सम्बन्ध में सुनने में नहीं आती ।

न्याय-सूत्र के स्वरूप के बारे में भी मतभेद है । प्रो० जैकोबी आदि विद्वान यह मानते हैं कि उसमें तत्त्वमीमांसीय अंश बाद में जोड़ दिया गया है । इससे यह स्पष्ट है कि न्याय-सूत्र मौलिक रूप में अभी उपलब्ध नहीं है । किन्तु यह कार्य कौटिल्य से पहले हो चुका होगा ।[6.]

इस विषय में भी यह निर्णय करना कठिन है कि न्याय-सूत्र की रचना कब हुई । ईसा-पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक का समय विद्वानों ने प्रस्तुत किया है ।[7.] सबके पक्ष-विपक्ष में तर्क हैं ।

न्याय-दर्शन का साहित्य-भाण्डार अत्यन्त विशाल है । प्राचीनकाल से लेकर अब तक एक से एक उद्भट विद्वानों ने इस शास्त्र का गौरव बढ़ाया है । न्याय-दर्शन के समस्त साहित्य को प्रधानतः दो भागों में विभक्त किया जाता है ।[8] एक को 'प्राचीन-न्याय' और दूसरे को 'नव्य न्याय' की संज्ञा दी जाती है । महर्षि गौतम प्रणीत न्याय-सूत्र ही न्याय-दर्शन का प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ है । इसके बाद प्राचीन न्याय का साहित्य इस मूल ग्रन्थ की टीका, भाष्य, वृत्ति, वार्त्तिक या इस पर आधारित स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में है ।

न्याय-सूत्र पर जो सर्वाधिक प्राचीन भाष्य उपलब्ध होता हैं, वह है न्याय भाष्य और उसके रचयिता हैं--वात्स्यायन । वात्स्यायन के मत की आलोचना बौद्ध-दार्शनिक दिङ्नाग ने की है । 'भाष्य' के ऊपर उद्योतकराचार्य ने अति विस्तृत 'वार्त्तिक' लिखा, जिसमें उन्होंने कहा है कि दिङ्नाग आदि बौद्ध कुतार्किकों के ज्ञान को दूर करने के लिए मैंने यह ग्रन्थ लिखा (कुतार्किक-ज्ञाननिवृतिहेतुः--मंगलाचरण) । यह ग्रन्थ न्याय-दर्शन के प्रमेयों को स्पष्ट रूप में समझने के लिए बहुत ही उपादेय है ।

उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक के बाद भी बौद्धों का प्रहार न्याय-दर्शन पर रूका नहीं । इसीलिए प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र (प्रथम) ने उद्योतकर के 'वार्तिक' पर 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका'[9] तथा 'न्यायसूची' निबन्ध' नामक पुस्तक लिखी । वाचस्पति मिश्र अद्वैतवेदान्ती थे । इनकी पैठ सभी शास्त्रों में बड़ी गहरी थी । इसलिए ये 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' आचार्य तथा 'षड्दर्शनवल्लभ' के नाम से भी विख्यात थे । इन्होंने न्याय-दर्शन के उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त मण्डनमिश्र के 'विधिविवेक' पर टीका तथा 'तत्त्वबिन्दु' और अद्वैतवेदान्त (शारीरिक भाष्य) पर 'भामती' नामक टीका ग्रन्थों की भी रचना की है ।

दसवीं सदी में उदयनाचार्य ने 'तात्पर्यटीका' पर 'परिशुद्धि' नाम की बहुत विस्तृत व्याख्या लिखी है ।[10] 'न्यायकुसुमांजलि' में इन्होंने बौद्धों के मत का

खण्डन कर 'ईश्वर' की पृथक् सत्ता का और 'आत्मतत्त्वविवेक' में 'आत्मा' की पृथक् सत्ता का अकाट्य युक्तियों के द्वारा निरूपण किया । न्यायसूत्र के पाँचवें अध्याय पर इन्होंने एक स्वतन्त्र टीका भी लिखी जिसका नाम 'न्यायपरिशिष्ट' है । इस प्रकार इन्होंने प्रकरणग्रन्थों को जन्म दिया और 'नव्य-न्याय' की आधार भूमि तैयार की ।

नवम् शताब्दी के काश्मीरी विद्वान भासर्वज्ञ का 'न्यायसार' न्याय-सूत्र पर निर्भर एक प्रकरण-ग्रन्थ है । इस पर इनकी अपनी ही 'न्यायभूषण' नाम की अत्यन्त विशालकाय एवं पाण्डित्यपूर्ण टीका है ।[10] ग्यारहवीं सदी में जयन्तभट्ट प्रणीत 'न्यायमंजरी', तात्पर्यपरिशुद्धि पर वर्धमान उपाध्याय (14वीं सदी) रचित 'न्यायनिबन्धप्रकाश' और शंकर मिश्र (15वीं सदी) की 'त्रिसूत्रीनिबन्ध' प्रसिद्ध व्याख्याएँ हैं ।

न्याय-दर्शन का नवीन युग बारहवीं सदी के आस-पास मिथिला-निवासी गंगेश उपाध्याय के युगान्तकारी ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' से प्रारम्भ होता है । इन्होंने 'न्याय-सूत्र' में से 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' केवल एक मात्र सूत्र लेकर प्रत्येक प्रमाण के ऊपर भिन्न-भिन्न खण्ड में गहन चिंतन किया है । इस चिंतन का मुख्य विषय तो प्रमाणों की विशद व्याख्या करना था, किन्तु प्रसंगवश न्याय-दर्शन के सारे विषयों का विवेचन इसके अन्दर किया गया है । ऐतिहासिकों का कहना है कि इतना विशाल साहित्य किसी भी एक ग्रन्थ पर उपलब्ध नहीं होता जितना एक 'तत्त्व-चिन्तामणि' पर । गंगेश की लेखन-शैली ने ज्योतिषःशास्त्र को छोड़कर, प्रायः अन्य सभी शास्त्रों को प्रभावित किया । विशेष रूप से यह विचार तथा भाषा में यथार्थता लाने में सहायक हुआ । यह नवीन शैली 'नव्यन्याय' के नाम से प्रसिद्ध हुई । 'तत्त्वचिन्तामणि' नव्यन्याय का आदि ग्रन्थ माना गया । नव्य-न्याय के पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से ग्रन्थ प्रणयन करना अन्य दार्शनिक समाज में भी पाण्डित्यपूर्ण माना जाने लगा । परवर्ती काल में अद्वैतसिद्धि, लघुचन्द्रिका

आदि वेदान्त ग्रन्थों की रचना भी नव्यन्याय की भाषा शैली से की गयी । तत्त्व-चिन्तामणि के ऊपर अनेक टीकाएँ तथा उपटीकाएँ लिखी गयी । गंगेश उपाध्याय के पुत्र वर्धमान प्रणीत 'प्रकाश' तथा पक्षधर मिश्र (15वीं सदी) की 'आलोक' नामक टीकाएँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं । गंगेश, वर्धमान तथा पक्षधर मिश्र के ग्रन्थों पर मिथिला में अनेक टीकाएँ लिखी गयी जिनसे 'नव्यन्याय' की मिथिलाभाषा उत्पन्न हुई ।[12]

सोलहवीं सदी में मिथिला का यह गौरव बंगाल चला गया । वासुदेव सार्वभौम ने नवद्वीप में 'नव्यन्याय' की दूसरी शाखा का सूत्रपात किया जिसे नवद्वीप शाखा कहा जाता है । इन्होंने 'तत्त्व-चिन्तामणि' के ऊपर 'सारावली' नामक एक व्याख्या ग्रन्थ लिखा जो कि नवद्वीप शाखा का पहला बड़ा ग्रन्थ है, वासुदेव सार्वभौम प्रसिद्ध वैष्णव सुधारक चैतन्य महाप्रभु एवं प्रसिद्ध नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि के गुरू थे । तत्त्व-चिन्तामणि पर रघुनाथ की 'दीधति', दीधति पर गदाधर भट्टाचार्य प्रणीत 'गदाधारी', जगदीश ने दीधति पर 'प्रकाशिका' या 'जागदीशी' नामक टीका लिखकर नवद्वीप के नव्यन्याय के कलेवर में अपूर्व योगदान प्रदान किया ।

'नव्य-न्याय' के उत्थान के बाद प्राचीन-न्याय का प्रचार बहुत कम हो गया और वह अधिक लोकप्रिय न रह सका । नव्यन्याय के उत्थान तथा प्रचार के बाद न्याय-दर्शन तथा महर्षि कणाद द्वारा स्थापित 'वैशेषिक-दर्शन' एक साथ सम्मिलित हो गये । इसे न्याय-वैशेषिक मत कहते हैं । जो प्रस्तुत शोध से असम्बन्धित है ।

प्राचीन तथा नव्यन्याय में मुख्य भेद साधन तथा साध्य को लेकर है । तर्क प्रधान होने पर भी प्राचीन-न्याय का प्रधान लक्ष्य था मुक्ति— प्रमाणप्रमेय---- तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः; किन्तु नव्यन्याय में तर्क-विज्ञान-सम्बन्धी विषयों का ही विशद विवेचन है । अतएव सच्चा नैयायिक जिगीषु (जीत चाहने वाला) नहीं होता, तत्त्वबुभुक्षु (तत्त्व का भूखा) होता है ।

अतः न्याय-दर्शन पर साक्षात् तथा परम्परा रूप में आज तक जितने ग्रन्थ लिखे गये हैं तथा लिखे जा रहे हैं उतने प्रायः किसी अन्य शास्त्र पर नहीं । इसका कारण है बौद्धों के साथ प्रतिवाद । यही कारण है कि न्याय-दर्शन का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि इसकी तर्कशैली और इसके पारिभाषिक पद प्रायः प्रत्येक भारतीय दर्शन द्वारा अंगीकृत कर लिए गये हैं । न्यायमत के खण्डन के लिए भी न्याय विरोधी दर्शनों को न्याय-दर्शन के ही पारिभाषिक पद एवं पद्धति का ही सहारा लेना पड़ता है । अतः आन्वीक्षिकी (न्याय-दर्शन) के सम्बन्ध में कही हुई कौटिल्य की यह उक्ति प्रासंगिक ही है------

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।

आश्रयः सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता ।।

अर्थात् आन्वीक्षिकी सभी विद्याओं को प्रकाशित करने वाली है तथा सभी कार्यों की साधिका और सभी धर्मों का आश्रयस्वरूपा है ।

(ii) वेदान्त-दर्शन के आचार्य एवं साहित्यः-

न्याय आचार्य परम्परा एवं साहित्य के विवेचन के उपरान्त वेदान्त का विवेचन अपेक्षित है । वेदान्त सर्वोत्कृष्ट भारतीय प्रतिभा के द्वारा किया गया 'औपनिषद्-सत्य' का व्याख्यान है । वेद का अन्तिम भाग होने से ये वेदान्त कहलाते हैं । 'वेदान्त' शब्द ऐसा है जो पहले आर्ष-ग्रन्थों के संग्रह में उपनिषदों की स्थिति सूचक था और बाद में वैदिक उपदेश के लक्ष्य का बोधक हो गया । यह बहुत कुछ वैसे ही हुआ जैसे अरस्तू का 'मेटाफिजिक्स' उसके ग्रन्थों में 'फिजिक्स' के बाद आने के कारण इस नाम से अभिहित हुआ । अतः वेदान्त का अर्थ है जिसके लिए उपनिषद् ही प्रमाण है [13] क्योंकि उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग हैं । उदाहरण के लिए ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है । चूँकि उपनिषदों में एक आचार्य के नहीं बल्कि आचार्यों की एक परम्परा के विचार संगृहीत हैं। अतः उपनिषद् शब्द अक्षरशः और अर्थतः वेदान्त है । स्वयं उपनिषदों में ही उपनिषद् के अर्थ में वेदान्त का प्रयोग हुआ है ।[14] यद्यपि उन सभी में

में विचार-सादृश्य है तथापि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जिन प्रश्नों की विवेचना की गई है और उनके जो समाधान दिये गये हैं उनमें कुछ विभिन्नता भी पायी जाती है । अतएव काल-क्रम से यह आवश्यक होने लगा कि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जो विचार हैं उनका विरोध परिहार कर सर्व-सम्मत उपदेशों का संकलन किया जाए । इसी आशय से उपनिषदीय विचारधारा को एक सुसंगत तथा क्रमबद्ध रूप देने का कार्य महर्षि बादरायण ने अपने हाथ में लेकर 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की । इसे वेदान्त-सूत्र, शारीरिक-सूत्र, शारीरिक-मीमांसा या उत्तर-मीमांसा कहते हैं । ब्रह्म-सूत्र में चार अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं । प्रथम अध्याय में ब्रह्म-विषयक समस्त वेदान्त वाक्यों का समन्वय, और द्वितीय में उन वाक्यों के तर्क स्मृति आदि से अविरोध प्रदर्शित किया गया है । तृतीय अध्याय में वेदान्त के विभिन्न साधनों के विषय में और चतुर्थ में उनके फल के विषय में विचार है । इस प्रकार वेदान्त-दर्शन का आदि-ग्रन्थ बादरायण प्रणीत 'ब्रह्मसूत्र' है । पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी'[15.] में जिस 'भिक्षुसूत्र' का उल्लेख किया है, वह यही 'ब्रह्मसूत्र' है ।

महर्षि बादरायण ही उपनिषदों के सार को सूत्ररूपेण संकलित करने वाले पहले नहीं थे । उनके पहले भी कुछ आचार्यों ने ऐसा प्रयास किया था । बादरायण के सूत्र में ऐसे सात आचार्यों का उल्लेख है— जैमिनि, बादरि, औडुलोमि, काशकृत्स्न, आत्रेय, कार्ष्णाजिनि और आश्मरथ । बादरायण का संकलन संभवतः अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ था । ब्रह्मसूत्र के विषय में शंकराचार्य का कहना है कि वह उपनिषदों के वाक्यों को सूत्रवत् ग्रन्थित करता है ।[16.]

प्राचीनतम् उपनिषदों पर जो प्राचीनतम् भाष्य उपलब्ध है वे शंकराचार्य के ही हैं और शंकराचार्य बादरायण के बाद हुए हैं । किन्तु शंकराचार्य के भाष्यों में सुन्दरपाण्ड्य, भर्तृप्रपंच तथा द्राविड़ाचार्य के संकेत तथा मत उद्धृत हैं । अतः सिद्ध है कि शंकराचार्य के पूर्व भी उपनिषद्-भाष्यकार थे । शंकर के पूर्ववर्ती उपनिषद् भाष्यकारों में गौड़पादाचार्य का नाम अग्रगण्य है । गौड़पादाचार्य का दर्शन उपनिषद्

के सिद्धान्तों का सर्वश्रेष्ठ तथा यथार्थ प्रतिपादन है एवं प्रधानतया माण्डूक्य-उपनिषद् (माण्डूक्य-कारिका) पर स्वतन्त्र भाष्य है और जिस पर शंकराचार्य का भी स्वतन्त्र भाष्य है । संभवत: गौड़पाद ने, ब्रह्मसूत्र और गीता का भी आश्रय लेकर अपने महान अद्वैतवेदान्त सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित किया । गौड़पादाचार्य शंकराचार्य के गुरू गोविन्दपादाचार्य के गुरू थे । शंकराचार्य स्वयं गौड़पादाचार्य को "पूज्याभिपूज्य परमगुरू" कहकर अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम करते हैं ।[19] ब्रह्मसूत्र भाष्य में भी वे उन्हें "वेदान्तसम्प्रदायवित् आचार्य" कहकर उनकी कारिका उद्धृत करते हैं ।[20] शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य भी उन्हें 'पूज्य गौड़' कहते हैं ।[21] महामहोपाध्याय पं0 विधुशेखर भट्टाचार्य ने हाल में ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वास्तव में 'गौड़पादकारिका' 'माण्डूक्योपनिषद्' की कारिका नहीं है । परन्तु भट्टाचार्य के मत से आचार्य वृन्द सहमत नहीं है ।[22]

बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर जो प्राचीनतम् भाष्य उपलब्ध है वह शंकराचार्य का शारीरिक भाष्य है । किन्तु शारीरिक भाष्य में ही उपवर्ष के नाम तथा मत उद्धृत हैं । अत: सिद्ध है कि उन्होंने अवश्य ही ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखा होगा जो अब अनुपलब्ध है ।

शंकराचार्य द्वारा रचित 'शारीरिक भाष्य' के बाद वेदान्त-दर्शन में एक क्रान्ति सी आ गई । अपनी अलौकिक प्रतिभा के कारण ये साक्षात् भगवान् शिव के अवतार माने जाते हैं ।[23] आचार्य गौड़पाद के शिष्य श्री गोविन्दपाद के शिष्य के रूप में इन्होंने बारह वर्ष की अवस्था में 'बदरिकाश्रम' में 'ब्रह्मसूत्र' उपनिषद् गीता आदि पर भाष्य लिखे और 32 वर्ष की अवस्था में इनका निर्वाण हो गया ।[24] शंकर के दर्शन की व्याख्या करते हुए डा0 राधाकृष्णन ने यह ठीक ही कहा है कि उनका दर्शन सम्पूर्ण है उसमें न पूर्व की आवश्यकता है नपर की । चाहे हम सहमत हो अथवा नहीं उनके मस्तिष्क का प्रकाश हमें प्रभावित किये बिना नहीं छोड़ता ।[24] वास्तव में वेदान्त-दर्शन का प्रभावी शिलान्यास शंकर के ही हाथों हुआ । शंकर-

ब्रह्माद्वैत का प्रतिपादन करते हैं । इस तत्त्वज्ञान का समर्थन शंकराचार्य ने उपनिषदों, 'ब्रह्मसूत्र' और श्रीमद्भगवतगीता पर भाष्य लिखकर किया । तब से इन तीनों ग्रन्थों को वेदान्त का प्रस्थान कहा जाने लगा है । प्रथम श्रुति-प्रस्थान है । द्वितीय न्याय-प्रस्थान है । और तृतीय स्मृति-प्रस्थान है । ये तीनों ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी कहे जाते हैं ।

शंकराचार्य से प्रेरणा प्राप्त करके उनके पश्चात् अनेक आचार्यों ने इन तीन ग्रन्थों (प्रस्थानत्रयी) पर या इनमें से किन्हीं दो या किसी एक पर भाष्य लिखे । उनके दर्शनों को भी वेदान्त कहा जाता है; क्योंकि उनका मूल वेदान्त की प्रस्थानत्रयी है । इस प्रकार वेदान्त का अर्थ बहुत व्यापक हो जाता है । इसके अलावा प्रत्येक भाष्यकार यह सिद्ध करने का दावा करते हैं कि उन्हीं का भाष्य श्रुति और मूलग्रन्थ (सूत्र) का वास्तविक तात्पर्य बतलाता है । हरएक भाष्यकार एक-एक वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक बन गये । प्रत्येक सम्प्रदाय के विद्वान अपने-अपने पक्ष की स्थापना तथा प्रतिपक्षियों के मत का खण्डन करने लगे । जीव और ब्रह्म में क्या सम्बन्ध है । ये दो हैं कि एक ही हैं । प्रधानतः इसी प्रश्न के विभिन्न उत्तरों पर वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों का विकास हुआ---

1- अद्वैतवाद (शंकराचार्य, 8वीं सदी, शारीरिक भाष्य)
2- विशिष्टाद्वैत (रामानुज, 11वीं सदी, श्रीभाष्य)
3- द्वैताद्वैत (निम्बिकाचार्य, 12वीं सदी, वेदान्तपारिजात-भाष्य)
4- शुद्धाद्वैत (बल्लभाचार्य, 16वीं सदी, अणु-भाष्य)
5- द्वैतवाद (माध्वाचार्य, 13वीं सदी, पूर्णप्रज्ञभाष्य)

अतः शंकराचार्य के मत में जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं, इनमें द्वैत नहीं है । अतः उनके मत का नाम पड़ा अद्वैतवाद । रामानुज अद्वैत को स्वीकार करते हुए भी कहते हैं कि एक ही ब्रह्म में जीव तथा अचेतन प्रकृति भी विशेषण रूप से हैं । अनेक विशेषण-विशिष्ट एक ब्रह्म को मानने के कारण इस मत का नाम पड़ा है विशिष्टाद्वैत

निम्बिकाचार्य का मत है कि जीव और ब्रह्म किसी दृष्टि से दो हैं, किसी दृष्टि से दो नहीं हैं । इस मत को द्वैताद्वैत कहते हैं । बल्लभाचार्य ने शंकर की माया का रामानुज के तत्त्वत्रय का, निम्बार्क तथा मध्व के भेद का प्रतिपाद करते हुए सच्चिदानन्द-स्वरूप तथा जीव-जगत् के परस्पर सम्बन्ध की समस्या का एक नया समाधान प्रस्तुत किया । एकमात्र तत्त्व ही ब्रह्म है और जड़-जीवात्मक जगत्-रूप कार्य भी ब्रह्म है, अतः दोनों शुद्ध अद्वैत हैं । माध्वाचार्य जीव और ब्रह्म को दो मानते हैं । अतः इस मत को द्वैतवाद कहा जाता है । वेदान्त के अन्य सम्प्रदायों की अपनी साम्प्रदायिक मान्यता अधिक है और सही वेदान्त दर्शन का प्रतिनिधित्व कम । वेदान्त के आध्यात्मिक तत्त्वों का विशेष चिंतन इनमें नहीं देख पड़ता । ऐसी धारणा बन पड़ी है कि ये 'ब्रह्मसूत्र' और 'भगवद्गीता' के अधिक अनुकूल पड़ते हैं । अतएव ये ऊँचे स्तर के दार्शनिक शास्त्र नहीं मालूम होते । किन्तु शंकर का अद्वैतवाद उपनिषदों के सिद्धान्त की एक स्वतन्त्र व्याख्या समझी जाती है । अतः वेदान्त का अब सामान्यतः अर्थ 'अद्वैतवेदान्त' ही किया जाता है ।[25] फिर भी ब्रह्मतत्त्व सभी वेदान्तियों के सिद्धान्तों का सामान्य केन्द्र बिन्दु है । अतः ये सभी वेदान्त दर्शन के सम्प्रदाय माने जाते हैं । प्रस्तुत शोध भी अद्वैत परम्परा और न्याय-दर्शन की परम्परा के परस्पर सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में चिन्तनप्रद है ।

वेदान्त के आचार्यों में बादरायण, गौड़पाद, शंकराचार्य के नाम लिये जा चुके हैं । प्रामाणिक रूप से शंकर द्वारा प्रणीत तेरह ग्रन्थ हैं ।[26] शारीरिक-भाष्य के अतिरिक्त उनके अन्य ग्रन्थ हैं-गीता-भाष्य, उपदेश-साहस्री तथा दस उपनिषदों पर भाष्य । बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, ईश, कठ, केन, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य-कारिका सहित माण्डूक्य उपनिषद् पर उनके भाष्य हैं ।

शंकर के भाष्यों ने अनेक सूक्ष्मबुद्धि एवं मेधावी टीकाकारों को आकृष्ट किया । उनके सबसे पहले टीकाकार उनके शिष्य पद्मपादाचार्य हैं जिन्होंने ब्रह्मसूत्र के चतुः सूत्री भाष्य पर 'पंचपादिका' टीका लिखी है । शंकर के समकालीन सुरेश्वराचार्य

ने नैष्कर्म्यसिद्धि की रचना की तथा बृहदारण्यक और तैत्तिरीयोपनिषद् पर भाष्यवार्त्तिक लिखकर अद्वैतवेदान्त में 'वार्त्तिक-प्रस्थान' की परम्परा डाली । पद्मपाद की 'पंचपादिका' पर प्रकाशात्मयति ﴾12वीं सदी﴿ ने 'पंचपादिकाविवरण' लिखकर विवरण-प्रस्थान का सूत्रपात किया । शारीरिक-भाष्य पर वाचस्पति मिश्र ﴾841 ई0﴿ ने 'भामती' नामक टीका लिखकर वेदान्त में तीसरे प्रस्थान अर्थात् भामती-प्रस्थान की स्थापना की । श्री हर्ष ﴾12वीं सदी﴿ का 'खण्डनखण्डखाद्य' वेदान्त का नैयायिक विधि से विश्लेषण करने वाला ग्रन्थ है । चित्सुखाचार्य ﴾13वीं सदी﴿ की तत्त्वदीपिका ﴾चित्सुखी﴿ तथा मधुसूदन सरस्वती ﴾15वीं सदी﴿ की 'अद्वैतसिद्धि' अद्वैतवेदान्त के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं । इन्हें कठिनत्रयी कहा जाता है । विद्यारण्य का 'विवरण-प्रमेय-संग्रह' तथा 'पंचदशी' तथा सदानन्द ﴾16वीं सदी﴿ का 'वेदान्तसार' तथा धर्मराज अध्वरीन्द्र ﴾16वीं सदी﴿ की 'वेदान्त परिभाषा' अद्वैतवेदान्त के सर्व-प्रचलित ग्रन्थ हैं जिनसे वेदान्त का प्राथमिक तथा प्रामाणिक परिचय प्राप्त किया जाता है ।

बाद के ग्रन्थों में अखण्डानन्द की विवरण-प्रस्थान पर 'तत्त्वदीपन' नामक टीका भामती-प्रस्थान पर अमलानन्द की 'कल्पतरू' और कल्पतरू पर अप्पय दीक्षित ﴾17वीं सदी﴿ की परिमल नामक टीका, आनन्द गिरि का 'न्यायनिर्णय', गोविन्दा-नन्द ﴾17वीं सदी﴿ की 'रत्नप्रभा' का अद्वैत वेदान्तियों में पर्याप्त आदर है । ऊपर के सभी ग्रन्थों पर अनेकानेक टीका-उपटीकाएँ उपलब्ध हैं ।

आधुनिक युग में भी आधुनिक भाषाओं में अद्वैतवेदान्त के अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं । आधुनिक युग में प्रायः सभी दार्शनिक वेदान्ती हैं । इसीलिए लोकोक्ति बन गयी है कि कलियुग में सभी वेदान्ती हैं--'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' ।

न्याय-दर्शन तथा वेदान्त-दर्शन के आचार्य एवं साहित्य के विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों दर्शनों के आचार्यगण परम निष्णात् हैं तथा अपनी लेखनी से विपुल

साहित्य का सृजन किया है । प्राचीन न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम ने सर्वप्रथम ज्ञान-मीमांसा को तत्त्व-मीमांसा से पृथक करके एक शास्त्र के रूप में रखा । नव्यन्याय के प्रणेता गंगेश उपाध्याय ने इस प्रक्रिया को और आगे बढ़ाया और उन्होंने न्याय-दर्शन का क्षेत्र केवल प्रमाण-मीमांसा निर्धारित किया । यद्यपि ज्ञान-मीमांसा कभी भी भारतीय दर्शन में तत्त्व-मीमांसा से पूर्णतया स्वतन्त्र न हो सकी, तथापि नव्यन्याय ने इस ओर जो विकास किया है उसका फल आधुनिक युग में दिखलाई पड़ने लगा है और ज्ञान-मीमांसा एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में स्थापित हो गयी है । इस ज्ञान-मीमांसा में न्याय-दर्शन के आचार्य एवं साहित्य का महत्त्व सदैव अक्षुण्य है । जिसे अपनाये बिना अन्य कोई भी भारतीय दर्शन अपने पक्ष को स्थिर नहीं कर सका है । अतः वात्स्यायन का 'प्रदीपः सर्वविद्यानाम्' कथन अक्षरशः सत्य है ।

न्याय-दर्शन पर वाचस्पति मिश्र (841 ई0) ने 'न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-टीका' तथा 'न्यायसूचीनिबन्ध' का प्रणयन किया है । किन्तु वेदान्त का नैयायिक विधि से विश्लेषण श्री हर्ष (12वीं सदी), चित्सुखाचार्य, मधुसूदन सरस्वती (15वीं सदी), धर्मराज अध्वरीन्द्र (16वीं सदी) प्रभृति वेदान्तिक आचार्यों ने किया है । किन्तु आचार्य शंकर के अनुसार प्रमाण अविद्या की निवृत्ति करते हैं, ज्ञान नहीं देते प्रमाणों में प्रमेय और प्रमाता का भेद होता है, जबकि ज्ञान सब प्रकार के भेदों से परे है । किन्तु पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त होने तक व्यावहारिक जगत् में प्रमाणों के महत्त्व से शंकर ने इन्कार भी नहीं किया है । आदि शंकराचार्य मानते हैं कि यदि सैकड़ों श्रुतियाँ भी एक स्वर से कहे कि अग्नि शीतल और अप्रकाशयुक्त है तो भी अनुभवविरुद्ध होने के कारण हम उन्हें प्रमाणिक नहीं मान सकते ।[27] सत् और असत् के यथार्थ विवेचन के लिए बुद्धि ही प्रमाण है ।[28]

वेदान्त-दर्शन में प्रमाणों का विवेचन उत्तरकालीन वेदान्तिक आचार्यों में से विशेषतः धर्मराज अध्वरीन्द्र ने किया, अतः न्याय-दर्शन के प्राचीन ग्रन्थों में

उनका खण्डन-मण्डन नहीं मिलता । 'तत्त्व-मीमांसा' पर चर्चा के समय अवश्य ही नैयायिकों ने वेदान्तियों के कथनों का भी विश्लेषण किया है । नैयायिक उदयनाचार्य ने कहा है कि न्याय-चर्चा वेदान्त का मनन है । जो श्रवण के अनन्तर होना चाहिए ।[29.] उपर्युक्त विवरण के आधार पर इतना स्पष्ट ही है कि वेदान्त में न्याय की समस्याओं पर यद्यपि आरम्भिक आचार्यों ने विशेष बल नहीं दिया, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने न्याय की शैली को अपनाने के अतिरिक्त न्याय के विषयों पर भी चर्चा की है । अतः श्री सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त महोदय ठीक कहते हैं कि यदि श्रीहर्ष के खण्डन न्याय-लक्षणों की भाषा की अपेक्षा उनके विचारों पर अधिक प्रहार करते तो उत्तरकालीन नव्य-नैयायिकों को भाषा की तोड़-मरोड़ और तार्किकी नटविद्या का प्रदर्शन (श्रीहर्ष के खण्डनों से बचने के लिए) करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता । अतः श्रीहर्ष प्रथम महान् दार्शनिक हैं जिन पर परोक्षरीति से नव्यन्याय की नटविद्या का अधिकांश में उत्तरदायित्व है ।[30.]

(III) तत्त्व-ज्ञान:-

न्याय तथा वेदान्त के आचार्य एवं साहित्य का विवेचन करने के पश्चात् भारतीय दर्शन के दो केन्द्र-भूत क्षेत्र तत्त्व-ज्ञान और मोक्ष पर विचार करना उचित होगा । सभी भारतीय दार्शनिक एक स्वर से जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति की विवेचना करते हैं । जीवन के दुःखों का किस तरह नाश हो इसका साधन खोजना सभी का अन्तिम उद्देश्य है । अतएव तत्त्व-ज्ञान और मोक्ष की विवेचना सभी दर्शनों में उपलब्ध है । और दोनों ही क्षेत्रों में भारतीय मनीषा ने नितान्त सूक्ष्म और गहन चिन्तन किया है ।

लेकिन प्रकृति की प्रत्यक्षमूलक व्याख्या वस्तुओं की सत्ता का अन्तिम समाधान करने में असमर्थ है— यह विचार केवल भारतवासियों में ही नहीं पाया जाता है, वरन् अनेक रूपों में पश्चिम के दर्शन में भी मिलता है । और अधिक निकट से परीक्षा

करने पर पता चलता है कि यह विचार समस्त तत्त्व-दर्शन का मूल है, यहाँ तक कि इसके बिना किसी तत्त्व-दर्शन का उद्भव ही नहीं हो सकता । कारण, यदि प्रत्यक्षमूलक या भौतिक गवेषणा प्रकृति की सच्ची और आन्तरिक सत्ता को हमारे लिए खोल दे तो हमें केवल इस मार्ग पर चलते जाना है और अन्त में समस्त सत्य को समझ लेना है, तब अन्तिम परिणाम भौतिकी होगी §एक व्यापक अर्थ में, प्रकृति या भूततत्त्व की विद्या§ और तत्त्व-ज्ञान §अतिभौतिकी§ का कोई आधार या औचित्य न होगा । अतः यदि प्राचीन और आधुनिक काल के तत्त्वज्ञानी प्रत्यक्षमूलक ज्ञान से असन्तुष्ट होकर तत्त्व-दर्शन की ओर बढ़े, तो इस कदम की व्याख्या केवल न्यूनाधिक इस चेतना से की जायेगी कि प्रत्यक्षमूलक गवेषणा और ज्ञान अन्ततोगत्वा हमारेज्ञानेन्द्रियों के स्वभाव पर आधारित एक महान् धोखा है, §लॉक मानता है कि द्रव्य सर्वत्र एक सा है- और मैं नहीं जानता क्या है ? यह हमारी आँखों को खोलने के लिए है- जो तत्त्व-ज्ञान का कार्य है ।

जहाँ तक ज्ञात है तीन बार यह ज्ञान पूर्णता तक पहुँच गया और हर बार देश-काल तथा व्यक्ति की परिस्थितियों के अनुसार यह एक भिन्न मार्ग से प्रकट हुआ । एक बार भारतीयों में जिनमें से न्याय और वेदान्त का यहाँ हमें विवेचन करना है, पुनः यूनानी दर्शन में पारमेनाइडीज §540-470 ई0पू0§ के माध्यम से और तीसरी बार आधुनिक दर्शन में जर्मन चिंतक इमैन्युएल कान्ट §1724-1804 ई0§ के माध्यम से ।

एलियाई ऋषि §पारमेनाइडीज§ ने जगत् को मिथ्या §मो ऑन§, अनित्यत्व और परिणाम को भ्रान्ति,व्यवहार से परमार्थ की ओर अनुगमन तथा 'चिद्रूप शुद्ध सत्ता' के विचार अद्वितीय तर्क-शक्ति से निकाले ।

इसी धारणा पर एक दूसरे बिल्कुल भिन्न मार्ग से कांट पहुँचा । उसके अनुसार जगत् हमें मात्र आभास देता है, न कि स्वतंत्र वस्तुओं की सत्ता । स्वतन्त्र वस्तुएँ

क्या है ? कांट मानता है कि यदि हम ज्ञान का स्रोत केवल बाह्य प्रत्यक्ष को मानते हैं और अपनी वर्तमान ज्ञान-शक्तियों तक ही अपने को सीमित रखते हैं, तो फिर स्वतन्त्र वस्तुएँ अविज्ञेय हैं ।

यूनानी और जर्मन चिन्तकों के ये प्रयत्न निस्सन्देह प्रशंसनीय है । किन्तु जिस प्रणाली से भारतीयों ने उन्हीं विचारों को प्राप्त किया, उसकी तुलना में उनके विचार बहिरंगी और द्वितीय स्तर के प्रतीत होते हैं । भारतीय चिंतन की पराकाष्ठा तब समझ में आ जाती है जब हम उनके फल को देखते हैं कि उन्होंने 'सत्ता' के गहनतम रहस्यों को 'आन्तरिक और साक्षात् अभिव्यक्ति' प्रतिपादित किया । भारतीय चिंतन आत्मा और ब्रह्म की एकता पर आधारित है जो उपनिषदों में पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हैं और ये ऐसे दो मुख्य प्रत्यय हैं जिनसे भारतीय तत्त्व-ज्ञान का उद्भव हुआ है ।

न्याय-दर्शन बहुतत्त्ववादी है । जिन्हें तत्त्व-ज्ञान का साधन माना गया है । तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति बताया गया है । महर्षि गौतम ने अपने प्रयोजन को न्याय-दर्शन के प्रथम-सूत्र में प्रकट कर दिया है-----

'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तअवयवतर्कनिर्णयवादजल्प
वितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञान्निश्रेयसाधिगमः'।
गौतम ने उपर्युक्त पदार्थों के ज्ञान को आवश्यक कहा है, क्योंकि इन्हीं 16 पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होगी । इन 16 पदार्थों का सामान्य या एकांगी ज्ञान प्रायः लोगों को हो सकता है, परन्तु तत्त्व-ज्ञान अर्थात् यथार्थ स्वरूप का ज्ञान इतना सरल नही है । प्रमाण के अतिरिक्त प्रमेय पदार्थ-आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख एवं अपवर्ग, ये बारह प्रमेय पदार्थ हैं । इन बारह प्रमेय पदार्थों के तात्त्विक-ज्ञान के लिए प्रमाण एवं संशयादि अन्य पंचदश पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है । गौतम के अनुसार इनके अनुशीलन से तर्क और वाद-विवाद की क्षमता तथा सूक्ष्म विचार की शक्ति बहुत

ही प्रखर हो जाती है और वाद या युक्तियुक्त चिंतन द्वारा तत्त्व-ज्ञान का उदय होता है । कहा गया है--'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः।'

पुनः आत्मेतर प्रमेय पदार्थों के ज्ञान के बिना आत्मज्ञान संभव नहीं है । आत्मा को तात्त्विक रूप से जानने के लिए आत्मेतर पदार्थों से इसका भेद जानना आवश्यक है । आत्मेतर भेद को जानने के लिए भेद-प्रतियोगी को जानना आवश्यक है । आत्मेतर प्रमेय पदार्थ ही तद्भेद-प्रतियोगी पदार्थ हैं । अतः प्रतियोगी के रूप में इन आत्मेतर प्रमेय पदार्थों को भी जानना होगा । तभी आत्मेतर भेद भी बोधगम्य होगा ।अन्यथा आत्मेतर जिस पदार्थ का ज्ञान नहीं होगा, उसी पदार्थ के साथ आत्मा का भी भ्रम हो सकने की संभावना बनी रहेगी । उक्त आत्मेतर पदार्थ में आत्मा होने का भ्रम कभी भी हो सकता है । इसीलिए आत्मा के तात्त्विक ज्ञान के लिए एवं तदर्थ आत्मेतर भेद ज्ञान के लिए आत्मेतर प्रमेय पदार्थों को भी जानना चाहिए । इसीलिए जिस प्रकार आत्मा का अर्थात् जीवात्मा एवं परमात्मा का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना न्याय-दर्शन का लक्ष्य है । उसी प्रकार आत्मा एवं परमात्मा के तात्त्विक ज्ञान की प्राप्ति हेतु शरीरेन्द्रिय आदि अन्य एकादश प्रमेय पदार्थों का ज्ञान भी इस दर्शन का लक्ष्य है । यद्यपि शरीरेन्द्रिय आदि प्रमेय पदार्थों का ज्ञान साधन भूत ज्ञान है, फिर भी इनके ज्ञान को साधनभूत लक्ष्य कहा जा सकता है । आत्माज्ञान भी तो निःश्रेयस अधिगम हेतु साधन ज्ञान है ।

अद्वैतवेदान्ती मधुसूदन सरस्वती अद्वैतसिद्धि में अद्वैतब्रह्मसिद्धि के लिए द्वैतमिथ्यात्वसिद्धि को आवश्यक मानते हैं । द्वैतमिथ्यात्वसिद्धि के लिए द्वैतका ज्ञान आवश्यक है । अतः समग्र द्वैत पदार्थों के ज्ञान की आवश्यकता अद्वैतवादी भी अद्वैतब्रह्मसिद्धि हेतु आवश्यक समझते हैं । ज्ञान पूर्वक ही द्वैत का निराकरण संभव है, अज्ञान पूर्वक नहीं । इसी प्रकार महर्षि गौतमभी यावत् पदार्थों के ज्ञान को आत्मज्ञान के लिए आवश्यक समझते हैं ।

परवर्ती नैयायिकगण सात पदार्थों में पदार्थ विभाजन समाप्त करते हैं । अन्नंभट्ट ने आत्मा के विशेष गुण बुद्धि को गुणों में अन्तर्भूत करके प्रमाणों का विवेचन उसी प्रकरण में किया है । उसी प्रसंग में 'अयथार्थस्त्रिविधः संशयविपर्ययतर्कभेदात्'- इस प्रकार संशय, विपर्यय एवं तर्क का भी बुद्धि के अन्तर्गत समावेश कर दिया है । अवयव और हेत्वाभास भी अनुमान के अन्तर्गत आने से बुद्धि के अन्तर्भूत हो जाते हैं । अतः इनको पृथक पदार्थ घोषित करने की आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार शास्त्रार्थ के अंगभूत वाद, जल्पादि अन्य पदार्थ भी बुद्धि के अन्तर्गत ही हो सकते हैं । अतः नवीन नैयायिकों का पदार्थ विभाजन अधिक समीचीन लगता है ।

अन्य भारतीय दर्शनों में 'तत्त्व' शब्द से केवल मात्र नित्य पदार्थ समझा जाता है । नैयायिकों के संशय प्रमाणादि सभी पदार्थ या तो विशुद्ध तर्कशास्त्र के आलोच्य विषय हैं या मनोविज्ञान के । जिस अर्थ में आत्मादि पदार्थ हैं उस अर्थ में संशय प्रमाणादि को पदार्थ नहीं कहा जा सकता इसीलिए जयन्तभट्ट का कहना है कि गौतम आदि को तो संक्षेप, विस्तार आदि के कारण शास्त्रकर्ता माना जाता है।[31]

न्याय-दर्शन का तत्त्व-विचार उसके प्रमाण-विचार पर अवलम्बित है । न्याय के अनुसार तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति प्रत्यक्ष अनुमान शब्द तथा उपमान से हो सकती है । किन्तु भासर्वज्ञ विशिष्टाद्वैती रामानुज की भाँति उपमान को प्रमाण न मानकर केवल प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को माना है । परवर्ती वेदान्ती धर्मराज अध्वरीन्द्र प्रभृति 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' का समर्थन करते हैं तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाणों को तत्त्वज्ञान में साधन मानते हैं ।

प्रमाणों के पश्चात् प्रमेयादि अन्य पन्द्रह पदार्थों का विवेचन आवश्यक है । बारह प्रमेयों में सबसे पहला स्थान आत्मा का है । आत्मा दार्शनिक 'चिंतन' का मेरुमणि है । इस सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों के मध्य पर्याप्त विवाद और मतभेद है । भारतीय दर्शन में आत्मा के सम्बन्ध में चार मत हैं । चार्वाक के अनुसार चैतन्य-

विशिष्ट शरीर ही आत्मा है । यह जड़वादी मत है । बौद्धों के अनुसार आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है । अद्वैत-वेदान्त आत्मा को ज्ञान का विषय नहीं मानता, वह आत्मा को स्वप्रकाश कहता है । चित्सुखाचार्य ने आत्मा की स्वप्रकाशता का लक्षण इस प्रकार किया है । ज्ञान का विषय न होते हुए जो अपरोक्ष व्यवहार के योग्य है वह स्वप्रकाश है । अत: अद्वैत-वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है, नित्य है एवं स्वप्रकाश-चैतन्य है । आत्मा न तो ज्ञाता है न ज्ञेय है और न अहम् है । विशिष्टाद्वैत-वेदान्त के अनुसार आत्मा केवल चैतन्य नहीं है, बल्कि एक ज्ञाता है जिसे अहम् कह सकते हैं । कहा है-- "ज्ञाता अहममर्थ एवात्मा ।"

न्याय-दर्शन में आत्मा की परिभाषा कई दृष्टियों से की गयी है । आत्म-पदार्थ की सिद्धि में गौतम ने 'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' में दर्शन, स्पर्शन क्रियाओं का एक कर्ता होना चाहिए, युक्ति दी है । जिसे मैंने देखा उसे स्पर्श द्वारा भी अनुभव करता हूँ । जिसे स्पर्श द्वारा अनुभव किया उसे चक्षु द्वारा देखता हूँ । इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भिन्न-भिन्न क्रियाओं का सम्पादन करने वाला एक होना, वही आत्मा है, अर्थात् नाना इन्द्रियों से अनुभव करने वाला अनुसंधाता एक ही है ।

केशवमिश्र ने 'आत्मत्वसामान्यवानात्मा' करके आत्मा की परिभाषा दी है ।[32] अन्नंभट्ट के अनुसार 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' अर्थात् समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का आधार आत्मा है । तर्कभाषा में बुद्धि के आश्रय के रूप में परिशेषानुमान द्वारा आत्मा की सिद्धि की गई है । 'तस्मादेभ्योऽष्टभ्यो व्यतिरिक्तो बुद्धादीनां गुणानामाश्रयो वक्तव्य: स आत्मा ।' वह आत्मा विभु परिमाण वाला सर्वत्र व्यापक है । वह अणु या मध्यमपरिमाण नहीं है । वास्तव में आत्मा निराकार है और अणु या मध्यम परिमाण आकारवान् वस्तुओं के ही गुण हैं । वह आत्मा प्रतिशरीर भिन्न है । अर्थात् न्याय के अनुसार आत्मा नाना है । यद्यपि आत्मा ज्ञानादि का अधिकरण है तथापि वह तत्त्वत: चेतन या ज्ञानवान् नहीं है । वह

स्वभावत: जड़ है । आत्मा चित् के योग से चेतन होती है और उसके बिना वह जड़ है । 33.

आत्मा और मन में संयोग-सम्बन्ध है । मन अणु है और आत्मा विभु है । प्रत्येक आत्मा के एक मन होता है । मन अनन्त है जैसे आत्माएँ अनन्त है । फिर मन अतीन्द्रिय है । वह अनुमेय है । मन नित्य है ।

न्यायसूत्र में आत्मा के अनुमान की चर्चा है, प्रत्यक्ष की नहीं । 'प्रमाण-संप्लव' की व्याख्या करते समय न्यायभाष्यकर वात्स्यायन ने सामान्य रूप में आत्मा को योगि-प्रत्यक्ष का विषय माना है, लौकिक-प्रत्यक्ष का नहीं । उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों ने आत्मा का 'अहम्' पदार्थ के रूप में ज्ञान आदि विशेष गुणों के साथ-साथ मानस-प्रत्यक्ष माना है । जयन्त भट्ट ने भी पहले मानस-प्रत्यक्ष का समर्थन किया, परन्तु बाद में अपनी दृष्टि से आत्मा को अनुमेय मान लेना ही अधिक अच्छा समझा । तर्कभाषा में केशवमिश्र भी आत्मा को मानस प्रत्यक्ष मानते हैं । हमें अपने आत्मा का अव्यवहित ज्ञान होता है । लेकिन अन्य आत्माओं का ज्ञान केवल व्यवहित रूप में उनके व्यवहार से होता है । आत्मा की न उत्पत्ति है, न नाश है, अत: यह नित्य है । आत्मा ज्ञाता, भोक्ता या कर्ता के रूप में बोधगम्य है ।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है । महर्षि गौतम ने परमात्मा अर्थात् ईश्वर की सिद्धि में अधिक रूचि नहीं दिखाई है । न्याय-दर्शन में कार्य-कारण वादों के प्रसंग में पूर्वपक्ष के रूप में गौतम ने "ईश्वर: कारणं पुरूषकर्माफल्यदर्शनात् " यह सूत्र प्रस्तुत किया है । इस सूत्र के द्वारा पूर्वपक्षी कहते हैं कि ईश्वर को कारण माना जाये, क्योंकि पुरूष के कर्म भी कभी-कभी निष्फल देखे जाते हैं । अर्थात् उपादान कारण के अतिरिक्त निमित्तकारण के रूप में ईश्वर को सृष्टि का कारण माना जाय । जीव 'अदृष्ट' को कारण मानने पर कभी-कभी अदृष्ट को नहीं फलते देखा गया है । इस पर उत्तरपक्ष की ओर से गौतम-सूत्र है—'न पुरूषकर्माभावे फलानिष्पत्ते

ईश्वर कारण नहीं है, अर्थात् फल प्रदाता ईश्वर नहीं हैं, क्योंकि पुरुषकर्माभाव की दशा में ईश्वर फल नहीं देता । अतः पुरुषकर्म अर्थात् अदृष्ट ही सृष्टि के लिए निमित्तकारण है, न कि ईश्वर ।'तत्कारितत्वादहेतुः' इस सूत्र से भी उपर्युक्त मत का समर्थन हो सकता है कि "पुरुषकर्मकारित्वात् ईश्वरः न निमित्तकारणम्" अपितु पुरुषकर्म अर्थात् अदृष्ट ही जगत का निमित्तकारण है । यहाँ तक कि प्रमाण प्रमेय पदार्थों में भी ईश्वर सिद्धि के लिए गौतम ने ईश्वर पदार्थ का नाम समाविष्ट नहीं किया है । प्रमेय आत्मा की सिद्धि के लिए गौतम ने 26 सूत्रों की रचना की है । परन्तु ईश्वर सिद्धि के लिए इतना ही ध्यान गौतम ने क्यों नहीं दिया ? तीन सूत्र ईश्वर सम्बन्धी हैं । उनमें से एक पूर्वपक्ष की ओर से प्रस्तुत है और शेष दो सूत्रों की व्याख्या अन्य प्रकार से की जा सकती है । 16 पदार्थों में ईश्वर को समाविष्ट न करना ही सिद्ध करता है कि गौतम के अनुसार न्याय की सृष्टिमीमांसा एवं मुक्ति मीमांसा में ईश्वर को तार्किक रूप से स्थान प्राप्त नहीं है । परन्तु बाद के आचार्यों ने तो ईश्वर के अस्तित्व का पूर्ण समाधान किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर के मानने की आवश्यकता जब हुई, तब उसका विचार किया गया अन्यथा विचार करने की आवश्यकता ही क्या थी ? इससे यह समझना उचित नहीं है कि ये लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करते थे और 'नास्तिक' थे ।

अतएव जब बौद्धों के साथ ईश्वर के सम्बन्ध में बहुत विचार हुआ, तब उदयनाचार्य ने 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' में युक्तियों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन किया । उदयन का कहना है कि ईश्वर के अस्तित्व में संदेह करना ही व्यर्थ है, क्योंकि कौन ऐसा मनुष्य है जो किसी न किसी रूप में 'ईश्वर' को न मानता हो ? जैसे- उपनिषद् के अनुयायी ईश्वर को 'शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव' के रूप में, कपिल के अनुयायी 'आदि-विद्वान सिद्ध' के रूप में, पतञ्जलि के अनुयायी 'क्लेश, कर्म, विपाक, आशय {अदृष्ट} से रहित' के रूप में, 'निर्माणकाय' के द्वारा सम्प्रदाय चलाने वाले तथा वेद को अभिव्यक्त करने वाले' के रूप में, शैव लोग 'शिव' के रूप में, वैष्णव लोग 'पुरुषोत्तम' के रूप में, पौराणिक लोग 'पितामह' के

रूप में, याज्ञिक लोग 'यज्ञपुरूष' के रूप में, सौगत लोग 'सर्वज्ञ' के रूप में, दिगम्बर लोग 'निरावरण' के रूप में, मीमांसक लोग 'उपास्य देव' के रूप में, नैयायिक लोग 'सर्वगुणसम्पन्नपुरूष' के रूप में, चार्वाक लोग 'लोक-व्यवहारसिद्ध' के रूप में तथा बढ़ई लोग 'विश्वकर्मा' के रूप में, जिनका पूजन करते हैं, वही तो 'ईश्वर' हैं ।[34.]

न्यायभाष्कार वात्स्यायन ईश्वर को आत्मा का ही एक विशेष रूप मानते हैं ।[35.] अन्नंभट्ट ने आत्मा के प्रकरण में 'द्विविध: परमात्मा जीवात्मा चेति' करके ईश्वर को परमात्मा कहकर 'सर्वज्ञ: एक एव' कहा है । इस प्रकार ईश्वर को आत्मा के वर्ग में रखकर और जीवात्माओं से उसका भेद करने के लिए उसे परमात्मा कहा गया है । ईश्वर अन्य आत्माओं की तरह सर्वव्यापी और नित्य हैं, लेकिन चैतन्य इत्यादि जीवात्मा में सदैव चाहे रहे या न रहे, ईश्वर में वे सदैव रहते हैं । ईश्वर का ज्ञान न केवल नित्य है, बल्कि सर्वग्राही और पूर्ण भी है । वह अच्छा और संकल्प कर सकता है, परन्तु जीवात्मा के विपरीत सुख-दु:ख से रहित है । आगम प्रमाण के आधार पर जयन्त भट्ट ईश्वर में नित्य-आनन्द की सत्ता भी मानते हैं ।[36.] तथा बाद के कुछ नैयायिक वेदान्त की ओर झुकते हुए ईश्वर को शाश्वत आनन्द से मुक्त मानते हैं । वाचस्पति मिश्र तात्पर्य टीका में बारम्बार ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न को ईश्वर में स्वीकार करते हैं। अन्य आचार्यों का पक्ष भी यही है ।

अत: स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि न्याय-दर्शन में ईश्वर प्रतिपादन-विषयक साहित्य परवर्ती न्यायाचार्यों की देन है, न कि गौतम की । न्याय-दर्शन का यह ईश्वरवाद विश्वसृष्टि की व्याख्या देने में उतना संगत नहीं बैठता, जितना कि रामानुज आदि वैष्णव दार्शनिकों का ईश्वरवाद । न्याय के अनुसार चार भूतों के परमाणु नित्य हैं । जीवात्माएँ भी नित्य हैं । सृष्टिकाल में ईश्वर परमाणुओं से मात्र सम्बन्ध करता है । ईश्वर एक प्रकार से प्रबन्धक मात्र है । वह सृष्टि के लिए परमाणुओं में संयोग का प्रबन्ध करता है । परमाणुओं की सृष्टि या

अभिव्यक्ति करने के लिए पाबन्दी है । परमाणुओं के संयोग-विभाग में भी स्वतंत्र रूप से प्रबन्धक नहीं है, क्योंकि जीव के कर्म के अनुसार ही ईश्वर को प्रबन्ध करना है । इस प्रकार का ईश्वर अन्य ईश्वरवादी दार्शनिक 'वैशेषिक के अतिरिक्त' नहीं मानते हैं । इसलिए नैयायिकों पर इस रूप के ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने का एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है । नैयायिक आगम-प्रमाण से ईश्वर की सत्ता सिद्ध कर सकते हैं । किन्तु आगम-प्रमाण में सब दार्शनिकों की आस्था नहीं है । इसलिए अनुमान-विशेषतः सामान्यतोदृष्ट-की सहायता से ईश्वर का अस्तित्व न्याय शास्त्र में प्रमाणित किया गया है ।

उदयनाचार्य (दसवीं शताब्दी) ने अपनी प्रखर मेधा से ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित किया है। न्याय कुसुमाञ्जलि के पाँच अध्यायों में से एक अध्याय में इसी बात का विवेचन किया गया है और यह दिखाया गया है कि कोई ऐसा प्रमाण नहीं दिया जा सकता जो यह सिद्ध करें कि ईश्वर नहीं है। अतः आचार्य उदयन 'स्वकृति न्यायकुसुमाञ्जलि' में ईश्वर के अनुमान में नौ हेतु प्रस्तुत किया है:

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ।।

अप्रमेय एवं अवाङ्मनसगोचर ईश्वर को प्रमेय तथा प्रमाण से सिद्ध करके न्याय-दर्शन पाश्चात्य-दर्शन के अत्यन्त निकट पहुँचता प्रतीत होता है । अदृष्ट-मूलक तर्क को नैतिक-युक्ति, सृष्टि-विज्ञान के तर्क को सृष्टि वैज्ञानिक युक्ति, प्रत्ययमूलक तर्क को कारणिक युक्ति, द्वित्व मूलक-तर्क को प्रागनुभविक तर्क, आयोजन-मूलक तर्क को प्रागनुभविक तर्क, आयोजन-मूलक तर्क को प्रयोजन मूलक तर्क या औपेक्षिक युक्ति के रूप में मोटे तौर पर उदयन की तर्क शैली को समझा जा सकता है ।

नैयायिकी ईश्वरवाद में ईश्वर तथा जीव में स्वरूपगत भेद विद्यमान है । जीवात्मा स्वरूपतः चेतनाहीन, निर्गुण तथा निष्क्रिय है, किन्तु ईश्वर सचेतन, सगुण तथा सक्रिय पुरूष है । जीवात्मा के परमात्मा से स्वरूपतः भिन्न होने पर प्रकृत धर्म

का स्थान नहीं रह सकता तथा ईश्वर जीव का आदर्श नहीं हो सकता । जहाँ तत्त्व-ज्ञान से आत्म-साक्षात्कार होता है एवं आत्म-साक्षात्कार ही अपवर्ग है । वहाँ मोक्ष-साधना में ईश्वर का स्थान गौण है ।

पुनश्च, नैयायिक बहुतत्त्ववादी हैं । जब ईश्वर चित् स्वरूप है तब वह कैसे जड़ की सहायता से जगत् की रचना कर सकता है ? जड़ तथा अजड़ स्वरूपत: भिन्न है, अत: इनमें कोई सम्पर्क सम्भव नहीं है । बहुतत्त्व स्वीकार करने पर जैसे एक ओर ईश्वर की असीमता की हानि होती है वैसे दूसरी ओर जगत् की संहति की व्याख्या करना भी कठिन हो जाता है ।

आत्मा के उस 'भोगायतन' को शरीर कहते हैं जो अन्त्य अवयवी है ।[35.] आत्मा और शरीर का सम्बन्ध संयोग कहा जाता है । इस संयोग के कारण शरीर में चेष्टा होती है । शरीर नश्वर है । शरीर के जन्म तथा मरण का क्रम तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा को अपवर्ग नहीं मिल जाता । अत: प्रश्न है कि आत्मा को सर्वप्रथम शरीर कैसे मिलता है ? इस पर न्याय-दर्शन का कहना है कि आत्मा और शरीर अनादि है । उपलब्धि का साधन इन्द्रिय है । न्याय के अनुसार मन को मिलाकर इन्द्रियाँ षड् हैं । चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र एवं मन, षड् इन्द्रियाँ है । अन्तरिन्द्रिय केवल मन है । न्यायमत में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द अर्थ कहे जाते है । न्यायभाष्यकर ने 'सुख तथा सुख का कारण' तथा 'दु:ख तथा दु:ख का कारण' इस अर्थ में भी 'अर्थ' शब्द का प्रयोग किया है । न्यायमत में बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान ये तीनों पर्यायवाचक शब्द है । अन्तरिन्द्रिय मन 'अणु-परिमाण' वाला है । मन के माध्यम से आत्मा सुखादि की उपलब्धि करता है । अत: आत्मा के सांसारिक बंधन में पड़ने का मूल कारण निश्चय ही उसका मनस से सम्बद्ध होना है ।[36.] मन नित्य है । एक शरीर में एक ही मन रहता है । यही 'मन' मोक्षावस्था में एक आत्मा को दूसरी आत्मा से पृथक् रहता है और इसी के कारण जीवात्मा तथा परमात्मा अलग-अलग रहते हैं । इसी के कारण मोक्षावस्था में भी न्यायमत में 'आत्मा' अनेक है

कायिक, वाचिक और मानसिक कार्य प्रवृत्ति है । मानव के समस्त कार्य-कलाप के मूल में वर्तमान राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि दोष हैं । अच्छे या बुरे कर्मों के फल-स्वरूप होनेवाला पुर्नजन्म प्रेत्यभाव है । सुख और दुःख का संवेदन होना ही 'फल' है । दुःख का लक्षण है बाधा-बाधित होने-का अनुभव । आत्मा का कर्म-बन्धन और दुःख से छुटकारा पा लेना ही अपवर्ग है । यही निःश्रेयस है । जिसका विवेचन पृथक् खण्ड में किया जायेगा ।

इन्हीं बारहों प्रमेयों के यथार्थ ज्ञान से इस जगत् के पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान हो जाता है और उसके पश्चात् साधक 'आत्मा' की खोज में अग्रसर होता है । परन्तु इनके यथार्थ-ज्ञान के लिए संशय से लेकर निग्रहस्थान पर्यन्त चौदह पदार्थों का एवं प्रमाणों का ज्ञान भी आवश्यक है । अतएव अति संक्षेप में इनका भी विवरण यहाँ देना अपेक्षित है ।

एक ही विषय के बारे में परस्पर-विरोधी या परस्पर-भिन्न विशेषताओं का एक साथ ज्ञान संशय है । जिस लक्ष्य को ध्यान में रखकर प्राणी कोई कार्य करता है वही प्रयोजन है । न्याय-दर्शन के अनुसार आध्यात्मिक प्रयोजन दो हैं--(क) पदार्थ-तत्त्व-ज्ञान (ख) निःश्रेयस् । इसमें भी निःश्रेयस् परम प्रयोजन है । अपने पक्ष के समर्थन में दिया गया उदाहरण दृष्टान्त है । दृष्टान्त ऐसा होना चाहिए जिसे वादी और प्रतिवादी दोनों ही एकमत से स्वीकार करें । प्रमाणों के द्वारा किसी वस्तु के बारे में 'इदमित्थम्' (यह ऐसा है) का स्वीकार सिद्धान्त है । इसके चार प्रकार है— सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम । इनकी व्याख्या में आचार्यों में मतभेद है । न्यायमत में अनुमान की प्रक्रिया में जितने वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है, वे सब अवयव कहलाते हैं । इन अवयवों का विस्तृत वर्णन अनुमान प्रकरण में किया जाये तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रमाणों का सहायक 'तर्क' कहलाता है ।

[illegible] किसी विषय के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान को निर्णय कहते हैं । तत्त्व-निर्णय के लिए गुरू और शिष्य के बीच पूर्वाग्रह के बिना किया गया विचार वाद है । इसका फल निर्णय या तत्त्व-निर्णय है । वादी

और प्रतिवादी के कोरे वाद-विवाद जिसका उद्देश्य यर्थाथ -ज्ञान प्राप्त करना नहीं होता है, जल्प कहते हैं । वकील कभी-कभी अपनी बहस में जल्प का प्रयोग करते हैं । जिस 'जल्प' में किसी भी पक्ष का स्थापन न किया जाय, उसे वितण्डा कहते हैं । 'वितण्डा' को अवलम्बन करने वाले 'वैतण्डिक' कहलाते हैं । ये सभी के पक्षों का खण्डन करते हैं, किन्तु अपना कोई भी सिद्धान्त या पक्ष स्वीकार नहीं करते । जैसे श्रीहर्ष-प्रणीत ''खण्डनखण्डखाद्य' में श्रीहर्ष ने अपने को 'वैतण्डिक' के रूप में दिखाया है । हेतु की कुछ विशेषता से युक्त और कुछ विशेषता से शून्य अनुचित हेतु हेत्वाभास है । सामान्यत: अनुमान के दोषों को हेत्त्वाभास कहते हैं । इसके भेदों की व्याख्या अनुमान-प्रकरण में की जायेगी । किसी वक्ता के कथन के अभिप्राय को उलटकर उस वाक्य के अर्थ को अनर्थ में परिवर्तित कर देना 'छल' है । मुख्यत: छल एक प्रकार के दुष्ट उत्तर का नाम है । साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा किसी में दोष बताना 'जाति' कहलाता है । यह भी दूसरे प्रकार का दुष्ट उत्तर है । न्यायसूत्र में इसके 24 भेद कहे गये हैं । किसी वाक्य-संदर्भ में वादी तथा प्रतिवादी के विपरीत ज्ञान एवं अज्ञान को 'निग्रहस्थान्' कहते हैं । न्याय-दर्शन में इसके 'न्यून' आदि 22 भेद माने गये हैं ।

उपर्युक्त पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान साक्षात् या परम्परा रूप में, भावात्मक या अभावात्मक पद्धति से नि:श्रेयस की, जो मानव का न्याय-शास्त्र-सम्मत परम लक्ष्य है, प्राप्ति का साधन है । इनमें भी जल्प से लेकर निग्रहस्थान पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनका मुख्य लक्ष्य है- विपक्षियों के प्रतिपादन में दोष का उद्घाटन करना और उनका खण्डन करना तथा अपने सिद्धान्त की रक्षा करना । गवेषणा से ज्ञात होता है कि बौद्धों के साथ तर्क-वितर्क करने के लिए ही महर्षि गोतम ने न्याय-दर्शन में इन पदार्थों का समावेश किया । कहा गया है--'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध: ।'

न्याय-दर्शन के तत्त्व-ज्ञान का विवेचन करने के पश्चात् वेदान्त-परम्परा के तत्त्व-ज्ञान को जानना प्रासंगिक है । वेदान्त-दर्शन में एकमात्र तत्त्व-पदार्थ है- ब्रह्म या आत्मा, जिसका स्वरूप है- आनन्द । इसके अतिरिक्त जो कुछ देख पड़ता

है वह अतत्त्व है, जिसे अवस्तु, अज्ञान, माया आदि भी कहते हैं । अतत्त्व को जानना इसलिए आवश्यक है कि वस्तु या तत्त्व या आत्मा 'अवस्तु' से पृथक् की जा सके । अवस्तु के ज्ञान के बिना 'अवाङ्मनसगोचर' वस्तु का ज्ञान साधारण लोगों को नहीं हो सकता । इसीलिए सोलहवीं शताब्दी के वेदान्ती धर्मराज अध्वरीन्द्र ने प्रकरण-ग्रन्थ का प्रणयन कर वेदान्त के प्रतिपाद्य को सभी के लिए बोधगम्य बनाया[37] वेदान्तपरिभाषाकार के अनुसार वेदान्त के अधिकारी साधन चतुष्टय सम्पन्न होते हुए भी मन्दबुद्धि तथा तीव्रबुद्धि भेद से दो प्रकार के हैं । उनमें से तीव्र बुद्धि वाले अधिकारी को तो सूत्र, भाष्य, टीका, प्रटीका इत्यादि ग्रन्थों को देखने में सामर्थ्य होने से तथा आलस न होने के कारण सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य ज्ञान उन्हीं सूत्रादि ग्रन्थों से हो जायेगा । किन्तु मन्दबुद्धि वाले अधिकारी में उक्त सूत्रादि ग्रन्थों को देखने का सामर्थ्य भी नहीं तथा आलस्य भी है । अतः उनके लिए भी (जो तत्त्वजिज्ञासु होने के कारण अधिकारी तो हैं) एक ऐसा ग्रन्थ होना चाहिए, जो संक्षेप में सम्पूर्ण वेदान्त के सामर्थ्य को बतला सकता हो तथा उसी के लिए यह वेदान्तपरिभाषा प्रस्तुत है ।

अतएव वेदान्त का तत्त्व-ज्ञान आत्मा और ब्रह्म तथा ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध समझाने की ही विशेष चेष्टा करता है । ब्रह्म और आत्मा एक हैं । इसलिए 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मप्राप्ति एकार्थक शब्द है-- यह वेदान्त का डिण्डिम-घोष है ।

वेदान्त-दर्शन का मूलग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' उपनिषदों के प्रतिपाद्य का सार प्रस्तुत करता है । वेदान्त-दर्शनों में मान्य भगवद्गीता एक उपनिषद् होने का दावा करती है और सभी उपनिषदों का सारतत्त्व प्रदान करती है । उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता के ही भाष्यों से वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों का विकास हुआ है । अतएव वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय परमतत्त्व को 'चिदात्मक' मानते हैं, किन्तु वे उस परमतत्त्व और जगत् के सम्बन्ध को पृथक्-पृथक रूपों में कल्पित करते हैं । उदाहरण के लिए शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, बल्लभ प्रभृति के वेदान्त-सम्प्रदाय परमतत्त्व

के अद्वैत में विश्वास करते हैं, किन्तु उस तत्त्व और जगत् के सम्बन्ध को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादित करते हैं । जिनके प्रतिपाद्य का क्रमशः विवेचन अपेक्षित है-

वेदान्त-दर्शन के प्रथम व्याख्याता आचार्य गौड़पाद के अनुसार एकमात्र तत्त्व ब्रह्म है । पर और अपर उसके दो रूप हैं । वह ब्रह्म अज है । किन्तु अज ब्रह्म अपनी माया शक्ति के द्वारा जीवात्मा और जगत् को उत्पन्न करता है । संसार में जो द्वैत या नानात्त्व है, वह मायाजन्य है, परमार्थतः केवल अद्वैत ही एक मात्र सत्य है ।[38.] गौड़पाद जगत् को 'वितथ' (स्वप्नवतमिथ्या) मानते हैं । शंकराचार्य के अनुसार वितथ का तात्पर्य है— असत्यत्त्व ।[39.] गौड़पादाचार्य के अनुसार ब्रह्म के लिए सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं है । सृष्टि उसका स्वभाव है । वे सम्पूर्ण सृष्टि को अजन्मा ब्रह्म मानते हैं । जो यह संसारी जीव है, वह वास्तव में परमात्मस्वरूप ही है । तत्त्व के अज्ञान के कारण वह अनादि काल से माया द्वारा ग्रस्त है । अतः गौड़पाद कहते हैं, अनादि माया के प्रभाव से सोया हुआ जीव जब जागता है, तब वह अजन्मा, निद्रारहित, स्वप्नरहित अद्वैत तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है ।[40.] गौड़पाद अजातिवाद के समर्थक हैं । आगे चलकर शंकराचार्य परमार्थ सत्य के रूप में अजातिवाद का समर्थन करते हैं । किन्तु शंकर गौड़पाद के तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी विवेचन से पूर्णतः सहमत नहीं हैं ।

प्रत्येक वस्तु, चाहे वह ज्ञात हो चाहे अज्ञात, साक्षिचैतन्य का विषय है । यह वेदान्त का निश्चय है ।[41.] गौड़पाद स्वप्नावस्था तथा जाग्रतावस्था को समान मानते हैं । अपनी-अपनी दशा में दोनों समान रूप से सत्य हैं और अपनी दशा से अपर की दशा में दोनों समान रूप से मिथ्या है । स्वप्न का पानी स्वप्न की प्यास और जगत् का पानी जाग्रत की प्यास बुझाने में समर्थ है । किन्तु स्वप्न का पानी जाग्रत की प्यास और जगत का पानी आध्यात्मिक प्यास नहीं बुझा सकते । बौद्ध विज्ञानवाद के परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न को वेदान्त प्रतिभास, व्यवहार और परमार्थ कहता है । गौड़पाद के समय में दर्शन-क्षेत्र में बौद्धों का अधिक प्रभाव था । गौड़पाद बौद्धाचार्यों के विचारों से स्वयं को असम्पृक्त नहीं

रख पाये हैं । शंकराचार्य भी अपने भाष्य में कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्धों द्वारा किये गये बाह्यार्थवाद के खण्डन का गौड़पादाचार्य अनुमोदन करते हैं ।[42.]

शंकराचार्य विज्ञानवाद का खण्डन करते हैं । ये स्वप्न और जगत् को समान नहीं मानते । ये जगत् की व्यावहारिक सत्यता पर विशेष महत्त्व देते हैं यहाँ शंकराचार्य का गौड़पादाचार्य से भेद है और शंकराचार्य का मत प्रौढ़ और विकसित है- ऐसा कुछ विद्वानों का मत है । परन्तु यह भेद वास्तविक नहीं है, यह भेद केवल दृष्टिकोण का भेद है । गौड़पादाचार्य और विज्ञानवादी जगत् को विज्ञान बाह्य न बताकर उसकी पारमार्थिकी असत्यता पर विशेष आग्रह देते हैं, शंकराचार्य जगत् को सदसदनिर्वचनीय होने से मिथ्या बताकर उसकी व्यावहारिक सत्यता पर विशेष आग्रह देते हैं । वास्तव में पारमार्थिक मिथ्यात्व और व्यावहारिक सत्यत्व एक ही बात है । फिर भी जगत् के व्यावहारिक सत्यत्व का प्रतिपादन, व्यवहार दशा में, अधिक श्लाध्य और सराहनीय है । यह शंकराचार्य की महत्ता है ।

शांकर वेदान्त केवल एक तत्त्व मानता है । वह तत्त्व है-- आत्मा या ब्रह्म । आत्मा ज्ञान-रूप है । आत्मा के अतिरिक्त और सभी पदार्थ असत् हैं । यह सर्वव्यापी और चेतन हैं । वस्तुतः इसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण की आवश्यकता नही है, यह स्वयं सिद्ध है, स्वप्रकाश है, तथापि अनादि अज्ञान से मुग्ध जीव इसे नहीं देखता, प्रत्युत् इसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्ति जीव को घेरे रहती है । अतएव इस भ्रान्ति को दूर करना वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है ।

शंकराचार्य मानते हैं कि दृष्टि (ज्ञान) ही आत्मा का स्वरूप है । दृष्टि से भिन्न द्रष्टा (ज्ञाता) का स्वरूप नहीं है । अनुभव, संवित, चित्, ज्ञान आदि आत्मा के ही अन्य नाम है । इससे ज्ञात होता है कि अद्वैत-वेदान्त आत्मा अथवा ब्रह्म को प्रमाणों का विषय नहीं मानता, वह उसे ज्ञान का विषय भी नहीं मानता । प्रमाण शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है- वह जिसके द्वारा ज्ञान के विषय का मापन किया जाता है, अथवा जिसके द्वारा ज्ञेय को सीमित या परिच्छिन्न किया जाता है ।

चूँकि आत्मा अपरिच्छिन्न है, इसलिए उसे प्रमाणों अथवा ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता ।

ध्यातव्य है कि यदि आत्मा ज्ञान का विषय नहीं है तो उसमें अनात्मा का अध्यास, जैसा अद्वैत मानता है, कैसे होता है ? सामने रस्सी के विद्यमान होने पर ही हम उसमें सर्प का अध्यास कर सकते हैं । इसका उत्तर देते हुए शंकर ने बतलाया है कि किस प्रकार आत्मा के अस्तित्व की प्रसिद्धि या ज्ञान होता है । उनके अनुसार आत्मा एकदम ही ज्ञान का विषय न हो, ऐसा नहीं । यदि चिदात्मा को अपरोक्ष न मानें तो उसके प्रथित (प्रसिद्ध, ज्ञान) न होने से सम्पूर्ण जगत् भी प्रथित न हो सकेगा और सब कुछ अंध या अप्रकाश हो जायेगा (वाचस्पति) । जगत् जड़ है, वह स्वतः प्रकाशित नहीं है । यदि आत्मा को स्वतः प्रकाशित न मानें तो जगत् में भी प्रकाश न मिल सकेगा ।

स्पष्टतः ज्ञात होता है कि शंकराचार्य उपर्युक्त पंक्तियों में आत्म-सत्ता-सिद्धि के लिए एक विशेष प्रकार की युक्ति का प्रयोग करते हैं । यद्यपि जैन-दर्शन, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा में भी आत्म-सत्ता को अनुमान द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है । आत्मा को शरीर, इन्द्रियों और मन से भिन्न सिद्ध किया गया है । परन्तु वेदान्त आत्मसत्ता की सिद्धि में अनुमान का प्रयोग नहीं करता । जिस अनुमान से आप आज आत्मा को सिद्ध करना चाहते हैं, उसमें कल कोई आपसे बड़ा तार्किक दोष निकाल सकता है । ईश्वर के अनुमान में संसार के विचारकों का एक मत आज तक न हो सका । इसलिए वेदान्त-दर्शन अपने चरम तत्त्व आत्मा की सिद्धि के लिए अनुमान-प्रमाण पर निर्भर नहीं रहना चाहता ।

वेदान्त का कथन है कि किसी प्रकार का अनुभव या अनुभूति चैतन्य तत्त्व के बिना नहीं हो सकती । अतएव शंकर मानते हैं कि आत्मा अनुभव होने के कारण स्वयंसिद्धि है । वह सभी प्रमाणों का आधार है । अवएव आत्मा प्रमाणों के व्यवहार से पहले ही सिद्ध है ।[43]

आत्मा की स्वयं सिद्धता को स्वप्रकाश या स्वयंप्रकाश कहा जाता है । आत्मा जब विषयों को प्रकाशित करती है तो उसके साथ ही साथ वह स्वयं अपने को भी प्रकाशित करती है । इस प्रकार वह अविषय और अवेद्य रहकर भी ज्ञात होती है । वह प्रतिबोध द्वारा विदित है । अतः उसे प्रतिबोध-विदित कहा जाता है । यही आत्मा के ज्ञान का रहस्य है ।

आत्मा बाहर की वस्तु नहीं है, वह साक्षात् अपरोक्षात् है । आगन्तुक वस्तु का ही निराकरण होता है, न कि अपने रूप का । यह आत्मा तो निराकरण करने वाले का ही अपना स्वरूप है । अग्नि अपनी उष्णता का निराकरण कैसे कर सकती है? शंकर कहते हैं कि आत्मा 'सर्वदा वर्तमान स्वभाव' है, उसका कभी अन्यथा भाव नहीं होता । सभी मनुष्य अनुभव करते हैं कि मैं हूँ । कोई मनुष्य यह अनुभव नहीं करता कि मैं नहीं हूँ ।

आत्मा का अस्तित्व अखण्डनीय है । शंकर कहते हैं कि जो आत्मा का खण्डन या निराकरण करेगा उसका ज्ञान ही आत्मा होने के कारण आत्मा अखण्डनीय है । इसी आशय को स्पष्ट करते हुए 'स्वात्म निरूपण नामक ग्रन्थ' में कहा गया है--कि यदि कोई मनुष्य 'आत्मा है' इस पर संशय करे तो उसे बताना चाहिए कि उसकी संशयिता होना ही आत्मा को सिद्ध करता है, क्योंकि संशय ज्ञान-रूप है । आत्मा न हो तो कौन संशय कर सकता है? अतः संशयकर्ता या उसका संशय आत्मा है ।[47]

आत्मा सर्वलोक प्रत्यक्ष तथा सर्वविदित होने पर भी सूक्ष्म होने के कारण प्रायः अविदित ही रहती है या उसके विशेष रूप की अवगति नहीं होती है । यह अवगति अध्यारोप तथा अपवाद की प्रणाली से होती है । दूसरे शब्दों में यह प्रणाली आत्मा के विशेष रूप को सिद्ध करती है । आत्मा पर क्रमशः पुत्र, देह, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि, द्रष्टृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व के आरोप किये जाते हैं और इन आरोपों का निराकरण या अपवाद करके आत्मा का स्वरूप जाना जाता है । आत्मा निष्प्रपंच है । अध्यारोप और अपवाद की प्रणाली से इस निष्प्रपञ्च का

ज्ञान होता है-- अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचयते ।

आत्मा की स्वयंसिद्धता अद्वैत वेदान्त की भारतीय दर्शन को महत्त्वपूर्ण देन है । वास्तव में आत्मा की सत्ता और आत्मा का ज्ञान दोनों एकार्थक हैं । शंकर और रामनुज दोनों ही मानते हैं कि ब्रह्म या ईश्वर की सिद्धि अनुमान द्वारा सम्भव नहीं है । रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि ब्रह्म का अस्तित्व श्रुति से ही प्रमाणित मानते हैं । इस दृष्टि से भी आत्मा की स्वयंसिद्धता का सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण है ।

आत्मा ब्रह्म है, वेदान्त इसको तर्कत: भी सिद्ध करता है । सभी की आत्मा होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध ही है । (सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्त्व प्रसिद्धि: ।।/।/।) । शंकर के अनुसार आत्मा के बिना प्रत्येक विषय का अभाव है । ('आत्मव्यतिरेकाभावात्')[45] - इस कारण प्रत्येक विषय आत्मा से अन्वित है, क्योंकि उसका ज्ञान होना और आत्मा से अन्वित होना एकार्थक है । इस प्रकार वेदान्त के विश्व-तत्त्व की सत्ता स्वयंसिद्ध है । आत्मा की स्वप्रकाशता से आत्मा को ब्रह्म का समर्थन चित्सुख भी करते हैं । उनका कहना है कि स्वप्रकाश का अर्थ अपरोक्ष और अवेद्य है । वह संवित् या दृष्टि है । अत: वह ज्ञाता-ज्ञेय, विषयी-विषय के द्वन्द्व से मुक्त या निरपेक्ष है । अत: वह ब्रह्म है । उसकी स्वप्रकाशता उसके चिद्रूपत्व से सिद्ध है । श्रीहर्ष ने खण्डन-खण्ड-खाद्य में ब्रह्म को अनिवर्चनीयवादी कहा है । वे मानते हैं कि जितने भी विषय या पदार्थ हैं उनका निर्वचन तर्कसंगत नहीं है । अत: वे सभी विषय अनिवर्चनीय या विलक्षण हैं अर्थात् उनका लक्षण नहीं किया जा सकता । किन्तु इससे सिद्ध होता है कि उनके अनिवर्चनीयत्व या विलक्षणात्व का ज्ञान सत्य है । यही आत्मा है । यही एक मात्र सत्य या परमार्थ सत्य है । अत: आत्मा ब्रह्म है । ध्यातव्य है कि अनिर्वचनत्व शून्यवादी बौद्ध भी मानते हैं । किन्तु शून्यवादी शून्य को केवल प्रज्ञप्ति-हेतु मानता है और उसको एक तत्त्व नहीं मानता, जबकि श्रीहर्ष अनिवर्चनीययत्व को प्रज्ञप्ति-अर्थ नहीं किन्तु एक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

वास्तव में इन सभी युक्तियों से यही सिद्ध होता है कि वेदान्त में मनन का बड़ा महत्त्व है और मनन तथा तर्क, के द्वारा आत्मा को सिद्ध करना तथा पुन:

उसको ब्रह्म सिद्ध करना वेदान्त का एक मुख्य विषय है ।

ब्रह्म 'निर्विशेष' तत्त्व है । स्वप्रकाश तत्त्व को देखने के लिए दीपक का प्रयोजन नहीं है, किन्तु उस अज्ञानरूपी अंधकार को, जिसने उसे (जीव को) अनादि काल से आच्छन्न कर रखा है, दूर करना है । इसी अज्ञान को अविद्या और माया भी कहते हैं । शंकर ने अविद्या और माया में कोई भेद नहीं किया है, किन्तु परवर्ती वेदान्त आचार्यों ने इन दोनों में भेद माना है । विद्यारण्य 'माया' से आच्छन्न ब्रह्म को 'ईश्वर' तथा अविद्या से आच्छन्न-ब्रह्म को जीव कहते हैं ।

माया ब्रह्म के समान सत् नहीं है । यह त्रिकाल में अबाधित नहीं है । इसका तत्त्व-ज्ञान से बोध होता है, जैसे- रज्जु में सर्प-ज्ञान होने के पश्चात् अन्य प्रमाणों से रज्जु का ही होना निश्चित हो जाने पर 'रज्जु' में सर्प का ज्ञान बाधित हो जाता है । इसलिए अज्ञान सत् भी नहीं है । शशशृंग की तरह यह 'असत्', अर्थात् तुच्छ भी नहीं है, इसकी प्रतीति होती है । इस प्रकार बाधित तथा प्रतीयमान, इन दोनों विरुद्ध धर्मों से युक्त होने के कारण इसे न सत् कह सकते हैं और न असत् ही कह सकते हैं इसलिए माया को 'अनिवर्चनीय' कहा जाता है । यह ज्ञान-विरोधी है अर्थात् तत्त्व-ज्ञान होने से इस माया का नाश होना है । श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है-- मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते । परन्तु उपर्युक्त धर्मों के कारण माया को अभावस्वरूप समझना भ्रान्ति है । यह 'भावरूप' है । यह शक्तिरूप है । यह अनन्त को सान्त और अपरिच्छिन बना देती है । यह अद्वैत आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व को द्वैत और नानारूप प्रपंच की भाँति प्रतीत कराती है । यह अभेद में भेद दिखाती है । फिर भी यह आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व का सत्य धर्म नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह विद्या द्वारा विलीन हो जाती है । माया की आवरण और विक्षेपशक्ति के प्रभाव से निर्विकार, अकर्त्ता आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी आदि कल्पनाओं से युक्त समझा जाता है । अतः मायावच्छिन्न चैतन्य जगत् का कारण है । माया से घिरा हुआ चैतन्य या आत्मा या ब्रह्म सविशेष हो जाता है । इसे ईश्वर कहते हैं ।

उपनिषदों की भाँति वेदान्त में भी ब्रह्म के दो रूप हैं- परब्रह्म और अपरब्रह्म । अपर ब्रह्म को ईश्वर या सगुण ब्रह्म भी कहा जाता है । पर ब्रह्म को निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है । जंगम और स्थावर समस्त प्रपंच का साक्षी होने तथा समस्त अज्ञानों को प्रकाशित करने के कारण अर्थात् जन्माद्यस्य यतः सगुण ब्रह्म का लक्षण है और सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म का लक्षण है । लेकिन जब ब्रह्म ही अन्ततोगत्वा ब्रह्म है, तब ईश्वर कैसे अन्ततोगत्वा ब्रह्म नहीं है ? अतः ईश्वर ब्रह्म है । ईश्वर का अस्तित्व या सत्ता-पक्ष वही है जो ब्रह्म का सत्ता पक्ष है । ईश्वर या ब्रह्म का भेद मनोवैज्ञानिक या मनोजन्य है, वह वास्तविक नहीं है । एक ही सत्ता की दो दृष्टियाँ हैं, जो ब्रह्म-दृष्टि और ईश्वर दृष्टि के नाम से विख्यात हैं । अतः ब्रह्म के दोनों लक्षण एक ही ब्रह्म के दो लक्षण हैं । वे दो ब्रह्मों के अस्तित्व को नहीं सिद्ध करते हैं । जो जगत् का मूल है वही आनन्द है, चित् है और सत् है । शंकर कहते हैं— सभी उपनिषदों का यह मत है कि जो जगत् का मूल है उसी के परिज्ञान से श्रेय होता है ।[46] परापर ब्रह्म एक ही है । उस परापर-ब्रह्म को देखने पर हृदय-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, सभी संशय दूर हो जाते हैं और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं और उसके ज्ञान से मोक्ष होता है ।[47]

अतः मायोपहित ब्रह्म ही ईश्वर है । माया ईश्वर की ही शक्ति है । यह ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है । इस शक्ति से ईश्वर, जीव और जगत् एक साथ प्रकट होते हैं । वास्तव में जीव तथा ईश्वर में ,जीव और जीव में, जीव और जगत में, ईश्वर और जगत में तथा जगत् की एक वस्तु और जगत् की दूसरी वस्तुमें कोई भेद नहीं है । यह पाँच भेद माया के कारण हैं । इन पाँच भेदों से मुक्त ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है । समस्त जगत् ब्रह्म का विवर्त है और माया का परिणाम है । इस प्रकार माया स्वयं ब्रह्म का विवर्त है । विवर्त का अर्थ-तत्त्व में अतत्त्वों के भाग को ही 'विवर्त' कहते है ।[48] वास्तव में कारण और कार्य का सम्बन्ध अनन्यता का सम्बन्ध है । शंकर के अनुसार अनन्यता का अर्थ है जो पृथक् अस्तित्व न रखे । (अनन्यत्व व्यतिरेकेण अभावः ।)

न्याय-दर्शन में कार्य और कारण के बीच अत्यन्त भेद की स्थापना की गयी है । न्याय-दर्शन के अनुसार कार्य अपने कारण से अत्यन्त भिन्न है तथा कारण के द्वारा उसकी नवीन उत्पत्ति होती है । जो आरम्भवाद के नाम से प्रसिद्ध है । शंकर भी कारण से कार्य की नवीन उत्पत्ति मानते हैं अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न समस्त प्रपंच नूतन ही है, परन्तु वह अनिर्वचनीय है ।

शंकरोत्तर वेदान्त-वेदान्तसार तथा वेदान्त परिभाषा में विवर्तवाद और परिणामवाद का अन्तर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में किया गया । तात्त्विक परिवर्तन परिणाम है, जैसे दूध का दही में परिवर्तन दूध का परिणाम है । अतात्त्विक परिवर्तन विवर्त है । जैसे रस्सी का साँप में जो परिवर्तन है वह अतात्त्विक है । अत: सर्प रस्सी का विवर्त है ।

शंकर के मत में पारमार्थिक [49.] दृष्टि से जीव तथा ब्रह्म अभिन्न है । शंकर जीव को विषयी मानते हैं और कहते हैं कि यद्यपि जीव सभी को क्रमश: देह, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि, अव्याकृत, कर्त्ता, भोक्ता तथा ज्ञाता प्रतीत होता है किन्तु यह जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है । यह जीव का मायाकृत रूप है । जीव का वास्तविक रूप ब्रह्म है । उस रूप में वह आत्मा है । किन्तु जीव अपने मायाकृत रूप में जन्मता और मरता है । वह जन्म-मरण के चक्र में घूमता है । वर्तमान जीवन में यदि इस संसार से मुक्ति मिल गयी तो फिर जीव मुक्त हो जाता है । यदि मुक्ति न मिली तो संसार-चक्र चलता रहता है । यद्यपि यह परमार्थत: असत् है तथापि व्यवहारत: या माया में सत् है ।

अत: जीव ब्रह्म रूप से सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य, अक्षय तथा अव्यय है । माया पर ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ईश्वर है एवं ईश्वर का प्रतिबिम्ब जीव है । किन्तु वास्तव में दोनों एक ही चैतन्य के प्रतिबिम्ब हैं, इस कारण दोनों में एक मौलिक एकता या अभेद भी है । यथा लाल पुष्प के सानिध्य के कारण स्वच्छ स्फटिक को हम भ्रम से लाल समझते हैं, इसी प्रकार अविद्यावशत: अन्त:करण की वृत्तियों का

हम निर्गुण तथा निष्क्रिय आत्मा में आरोप करते हैं । यह विवरणप्रस्थानवादी वेदान्तियों का प्रतिबिम्बवाद है ।

भामती-प्रस्थानवादी अवच्छेदवाद के अनुसार ब्रह्म स्वतः अनवच्छिन्न है । जब वह माया से अवच्छिन्न होता है तो वह ईश्वर कहा जाता है और जब वह अविद्या से अवच्छिन्न होता है तब वह जीव कहा जाता है । जीव तथा ईश्वर दोनों चैतन्य के अवच्छेद है । ये दोनों अवच्छेद वैसे ही हैं जैसे आकाश के घटाकाश और गृहाकाश अवच्छेद । यद्यपि विद्यारण्य स्वामी अवच्छेदवाद को जीव तथा ईश्वर के सम्बन्ध की व्याख्या में अपर्याप्त मानते हैं । किन्तु न्याय-दर्शन के आधार पर वाचस्पति मिश्र ने अवच्छेदवाद को स्थापित किया है । ब्रह्म का उपाधिग्रस्त होना अवच्छेद है । मायासृष्ट उपाधि के विनाश होने पर जीव तथा ब्रह्म अभिन्नत्व प्राप्त करते हैं । शंकर के मत में पारमार्थिक दृष्टि से जीव एक तथा अद्वितीय होते हुए भी व्यावहारिक जीव अनेक हैं ।

वास्तव में वार्त्तिक-प्रस्थानवादी माया और अविद्या में भेद न मानकर आभासवाद का अनुमोदन हैं । उनका कहना है कि ब्रह्म का अवच्छेद करना या अवच्छिन्न होना यथार्थ नहीं है । वह मात्र आभास है । ब्रह्म ही अपनी अविद्या से संसारी होता है और अपनी विद्या से मुक्त होता है । प्रतिबिम्बवादी,अवच्छेदवादी तथा आकाशवादी सभी अभेदवादी हैं । और जीव तथा ईश्वर के ऐक्य को मानते हैं । प्रायः वेदान्ती एकेश्वरवाद और अनेक जीववाद में विश्वास करते हैं ।

वेदान्ती अद्वैत-दर्शन में एकमात्र तत्त्व आत्मा या ब्रह्म है । माया की विक्षेप-शक्ति के कारण जो सृष्टि होती है, वह मायिक है, भ्रान्ति है । यह बोध 'तत्त्वज्ञान' के द्वारा होता है । तब जीव अपने स्वरूप को प्राप्त होता है । और वही स्वरूप तो ब्रह्म या परमात्मा है ।

उत्तरकाल (परवर्ती) के अद्वैत के व्याख्याताओं में भामतीकार वाचस्पतिमिश्र विवरणकार प्रकाशात्म यति, 'खण्डनखण्डखाद्य' के लेखक श्रीहर्ष, प्रत्यक्तत्त्वदीपिका के

प्रणेता चित्सुखाचार्य एवं अद्वैतसिद्धि के रचयिता मधुसूदन सरस्वती के नाम मुख्य हैं । इन चिन्तकों ने द्वैतवाद के खण्डन के साथ-साथ जगत् के मिथ्यात्व का समर्थन किया है

शंकर के अद्वैत के पश्चात् वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय बने । किन्तु उनमें रामानुज का वेदान्त विशेष प्रतिष्ठित रहा है । रामानुज भी तत्त्व-मीमांसा में एक प्रकार के अद्वैतवाद के ही समर्थक हैं, किन्तु उनका अद्वैत विशिष्टाद्वैत है । रामानुज के अनुसार ब्रह्म-तत्त्व निर्विशेष नहीं, सविशेष है, जीव और जगत् उसे विशेषित करते हैं और उसके शरीर जैसे हैं । रामानुज की भाँति ही अन्य वेदान्ती अद्वैत-वेदान्त का खण्डन तथा स्वयं की पृथक् तत्त्व-मीमांसा का प्रतिपादन करते हैं ।

अद्वैत-वेदान्त के विरोध में अन्य वेदान्ती-सम्प्रदायों ने माना कि ﴾1﴿ ब्रह्म सगुण है, ﴾2﴿ जगत् सत्य है, ﴾3﴿ जीव, ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है, वह अणु और नित्य है, वह ब्रह्म केवश में है और संख्या में अनेक है ।, ﴾4﴿ कार्य-कारण के नियम के रूप में सत्य सिद्धान्त परिणामवाद है, विवर्तवाद नहीं, और ﴾5﴿ 'माया कोई उपाधिनहीं, अपितु ब्रह्म की एक वास्तविक शक्ति है ।

मध्वाचार्य के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय मानते हैं कि ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है । यह सिद्धान्त अभिन्ननिमित्तोपादान कारण का सिद्धान्त कहा जाता है । इसके विपरीत मध्वाचार्य मानते हैं कि ब्रह्म जगत् का केवल निमित्त कारण है ।

वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय को छोड़कर शेष सम्प्रदाय मानते हैं कि ब्रह्म, जीव और अचित् तत्त्व का आपस में स्वरूपतः भेद है ।

﴾IV﴿ <u>मोक्षः-</u>

न्याय-दर्शन तथा वेदान्त-दर्शन के तत्त्व-ज्ञान का विवेचन करने से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि न्यायाचार्य 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' पद्धति के समर्थक हैं । नैयायिक बहुतत्त्ववादी हैं । प्रमेयों में अनेक नित्य पदार्थ हैं । यद्यपि आत्मा भी

नित्य पदार्थ है, तथापि स्वभावत: इसका कोई गुण नहीं है, यहाँ तक कि चैतन्य भी इसका स्वाभाविक गुण नहीं है । अत: यह निर्गुण तथा निष्क्रिय है । अविद्यावशात: आत्मा नित्य मन तथा शरीर के संयोग होने पर अपने को ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता समझता है तथा बद्धावस्था को प्राप्त होता है । यही मिथ्या ज्ञान आत्मा के बन्धन का मूल कारण है । अतएव महर्षि गौतम ने अपने ग्रन्थ का निरूपण 'तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगम:' अर्थात् केवल तत्त्वज्ञान की सहायता से जीव, मन तथा शरीर का बन्धन छिन्न करके निश्रेयस प्राप्त करता है, का श्रीगणेश करके किया है ।

वेदान्त का तत्त्व-ज्ञान मूलत: इस अवधारणा का निरूपण करता है कि प्रत्यक्षमूलक ज्ञान और कर्म के सभी नियम तभी तक सत्य हैं जब तक हम उस अविद्या से ग्रस्त हैं जो मिथ्या आरोप पर निर्भर है, जिसे प्रकृति हम पर थोपती है और जिसके बारे में अन्त में कहा जाता है कि इस प्रकार यह नैसर्गिक अध्यास अनादि और अनन्त है, मिथ्या प्रत्ययरूप है, (आत्मा में) कर्तृत्व-भोक्तृत्व का प्रवर्तक है । इस अनर्थ के हेतुभूत अध्यास की समूल निवृत्ति के लिए तथा ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए सभी वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से तत्त्व-ज्ञान का प्रतिपादन किया है । सुरेश्वराचार्य मानते हैं कि जिस विधि से भी मनुष्य प्रत्यगात्मा का ज्ञान प्राप्त करे वह वेदान्त को मान्य है और ऐसी विधियाँ असंख्य है ।[50.]

इस प्रयोजन को वेदान्त आत्मा से अनात्मा को जो उसमें अध्यस्त की जाती है, पृथक् करके सिद्ध करता है । वस्तुत: वह उन उपाधियों या व्यक्तीकरण करने वाले लक्षणों को जिनमें उपहित होकर ब्रह्म जीवात्मा हो जाता है, आत्मा से पृथक् करता है । ऐसी उपाधियाँ है । (1) बाह्य जगत् की समस्त वस्तुएँ और सम्बन्ध, (2) पंचमहाभूतों से बना शरीर, (3) इन्द्रियाँ अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ जो पृथग्भूत सत् के रूप में ली जाती हैं, (4) मन जिसे अन्त:करण भी कहा जाता है, जो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का केन्द्रभूतकरण (इन्द्रिय) हैं, और

§5§ मुख्य प्राण जो अपने पाँच प्रकारों के साथ अचेत जीवन की एकता का तत्त्व है और भरणपोषण करता है । इन सबको तत्त्वज्ञान हटा देता हैं और केवल आत्मा अर्थात् वास्तविक आत्मा या "मैं" को ग्रहण करता है । यह आत्मा सभी व्यक्तिगत व्यवहार का द्रष्टा §साक्षी§ है, किन्तु यह स्वयं केवल प्रत्यक्षत: ही उपाधियों द्वारा व्यक्तीकृत है । परमार्थत: इसके विपरीत, यह परमात्मा से अभिन्न है और उसके समान शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप वाला है, शुद्ध चेतना §चैतन्य§ है अर्थात् जीवों ब्रह्मैवनापर:। सदानन्द ने वेदान्तसार में दिखलाया है कि न्याय-दर्शन के तत्त्व-ज्ञान प्रतिपादन की विधि अरून्धती-न्याय से वेदान्तमत में उपयोगी है क्योंकि ये क्रमश: सूक्ष्मतर अध्यारोप है जिनके अपवाद के अनन्तर ही आत्म ज्ञान होता है।[51]

न्याय-दर्शन तथा वेदान्त-दर्शन द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-ज्ञान से स्पष्टत: ज्ञात होता है कि दोनों के परमतत्त्व अपने-अपने स्वरूप को भूल गये हैं । यदि न्याय की आत्मा मोह से ग्रस्त है, तो वेदान्त का ब्रह्म माया से सम्पृक्त है । अतएव दोनों के परमतत्त्व अपने को जीवात्मा मान बैठे हैं । जबकि जीवात्मा आत्मा या ब्रह्म है । परन्तु जीवात्मा को यह प्रत्यभिज्ञा मोक्षदायक ज्ञान के अनन्तर प्राप्त होती है । जिसमें आत्मा ब्राह्य-विषयों के अनुचिन्तन से हटकर अपनी ओर प्रवृत्त होती है और इस प्रकार अन्य समस्त वस्तु को अनात्मा, असत् समझती है । अत: मोक्ष अपुनर्भव है । इसके विपरीत पुनर्भव या पुर्नजन्म है जिसे जन्म-मरण का चक्र या संसार कहा जाता है । दार्शनिक संसार को बन्धन मानते हैं और इस बंधन से मुक्त होने को मोक्ष कहते हैं ।

भारतीय परम्परा में चार्वाक-दर्शन के अतिरिक्त प्राय: सभी दर्शनों में मानव-जीवन के चरमलक्ष्य मोक्ष पर गहन चिंतन हुआ है । पर उनमें मोक्ष के बारे में परस्पर दृष्टिकोण की विषमता है । किन्तु जयन्त भट्ट का कहना है कि सूक्ष्मेक्षण करने पर सबका मोक्ष एक ही रूप का है । उनका कहना है कि आत्मा का अपने स्वाभाविक रूप में अनन्तकाल के लिए अवस्थान ही सर्वसम्मत मोक्ष है । इसलिए आत्मा के वास्तवि

स्वरूप का विवेचन ही मोक्ष के स्वरूप के विवेचन का अर्थ है । [52]

वेदान्त के अनुसार मोक्ष के सम्प्रत्यय में वे ही लक्षण हैं जो नियमपूर्वक ब्रह्म के लक्षण हैं, और सचमुच ब्रह्म तथा मोक्ष की अवस्था एकार्थक शब्द हैं (ब्रह्म एव हि मुक्त्यवस्था), क्योंकि जीव और ब्रह्म का अभेद हमेशा रहता है और अविद्या से यह जीव से छिपा रहता है, इसलिए मोक्ष केवल इस ज्ञान का जागरण है कि हमारी आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है । अत: मोक्ष जो नित्य है, वह प्राप्ति की प्राप्ति है, न कि अप्राप्ति की प्राप्ति है ।

अतएव न्याय के अनुसार जीवन का लक्ष्य आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझकर हम मिथ्या विश्वास के प्रभाव से स्वयं को मुक्त करना होना चाहिए । यह मूलभूत मोह या मिथ्या ज्ञान सही ज्ञान का अभाव मात्र नहीं है, बल्कि विपरीत ज्ञान है । [53] इसे द्विविध कहा जा सकता है : (1) जो चीजें वस्तुत: आत्मा की अपनी नहीं हैं, जैसे मनस् शरीर इत्यादि, इन्हें भ्रमवश उसकी मान लेना, और (2) गुणों को गलती से आत्मा का तात्त्विक लक्षण मान लेना जो अतात्त्विक या आगन्तुक हैं, जैसे ज्ञान, सुख और दु:ख जिनकी उत्पत्ति आत्मा का शरीर इत्यादि से साहचर्य होने से होती है । न पहले प्रकार की चीजों से पृथक् किए जाने पर आत्मा की अखण्डता पर असर होता है और न दूसरे प्रकार की बातों के हटने पर । इसलिए नित्य जड़, विभु तथा अनेक परस्पर भिन्न रूप में जीवात्मा का अनन्त काल के लिए अवस्थान ही, न्याय-दर्शन की दृष्टि में, आत्मा का मोक्ष-अपवर्ग है । दूसरे शब्दों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे आत्मा को अपने लिए प्राप्त करना है या जो अपने लिए प्राप्त कर सकता है । इस तथ्य का ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है । [54]

ऊपर नैसर्गिक रूप में आत्मा के अनन्त अवस्थान को अपवर्ग कहा गया है । इसका आशय यही है कि अपवर्ग के समय आगन्तुक धर्म-विशेष गुण-सदा के लिए विनष्ट हो जाते हैं । इसीलिए मोक्ष की दूसरी परिभाषा-अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष: भी नैयायिकों को मान्य है ।

न्यायसूत्र में दुःख के अत्यन्त उच्छेद को अपवर्ग कहा गया है-- तदत्यन्तविमोक्षो-ऽपवर्गः । अर्थात् जन्म का अत्यन्त हान अपवर्ग है । अत्यन्त का यहाँ अर्थ है प्राप्त जन्म का परिहार तथा भावी जन्म का अभाव । प्राप्त जन्म ही भावी जन्म का उपादान कारण होता है । प्राप्त जन्म का अत्यन्त उच्छेद हो जाने पर भावी जन्म नहीं होता है । वैसे मृत्यु से भी इस जन्म का उच्छेद होता है । किन्तु मृत्यु के बाद पुर्नजन्म होता है । अतएव मृत्यु से अपवर्ग भिन्न है । इसीलिए अपवर्ग को जन्म का अत्यन्त विमोक्ष कहा गया है ।

अपवर्ग निःश्रेयस, मोक्ष आदि शब्द पर्याय हैं । न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर ने न्याय-सूत्र के भाष्य के अवतरणांश से संकेत प्राप्त कर निःश्रेयस् को अपर और पर निःश्रेयस् के रूप में विभक्त किया है । अपरनिःश्रेयस को ही जीवन-मुक्ति और परनिःश्रेयस को विदेह-मुक्ति भी कहते है । अपरनिःश्रेयस् तत्त्व-ज्ञान के अनन्तर ही होता है । किन्तु परनिःश्रेयस् तत्त्व-ज्ञान के बाद क्रमशः होता है ।

जिसके ज्ञात होने पर उसकी प्राप्ति की इच्छा हो, उसे प्रयोजन कहते हैं । यह दुःखनिवृत्ति-स्वरूप अपवर्ग तत्त्व-ज्ञान के द्वारा ही संभव है । इसलिए जब प्रश्न उठता है कि कहाँ से उच्छेद का प्रारम्भ किया जाय, तो दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए सर्वप्रथम धर्म-ग्रन्थों के आत्म-विषयक उपदेशों का श्रवण करना चाहिए, तत्पश्चात् मन के द्वारा आत्मविषयक ज्ञान को सुदृढ़ करना चाहिए । इन दो चरणों (श्रवण और मनन) में परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है । तब आत्मा के सच्चे स्वरूप का ध्यान किया जाता है । इसे निदिध्यासन कहा जाता है । इसमें अष्टांग-योग का अनुष्ठान भी सहायक होता है । तत्पश्चात् पूर्ण परिपाक को प्राप्त कर साधक आत्मा का साक्षात्कार करता है । परिणामस्वरूप जिस व्यक्ति को यह अनुभव हो हो जाता है, वह मृत्यु के बाद भौतिक शरीर से सम्बन्ध टूटते ही जीवन के अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है । यह निषेधात्मक आदर्श है और इसका मतलब सुख की प्राप्ति नहीं, बल्कि दुःख का परिहार है । यद्यपि परवर्ती नैयायिक

न्यायसार के प्रणेता भासर्वज्ञ मोक्ष में नित्य-सुख की प्राप्ति मानते हैं । किन्तु वात्स्यायन, उद्योतकर आदि आचार्यों को यह मत मान्य नहीं हैं । न्याय के इक्कीस दुःखों का परिहार ध्वंसाभाव-स्वरूप होने से अनन्त होगा और इस अवस्था से भ्रंश नहीं होगा । इस आत्यंतिक दुःख निवृत्ति का नाम परममुक्ति है । गौतम मानते हैं कि मिथ्या-ज्ञान के नष्ट होने पर दोष अर्थात् राग, द्वेष और मोह नष्ट होते हैं । दोष के नष्ट होने से प्रवृत्ति नहीं होती है । प्रवृत्ति के नष्ट होने से जन्म नहीं होता है और जन्म के नष्ट होने से दुःख नहीं होता है ।[55]

न्याय-दर्शन के अपवर्ग-संप्रत्यय से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि मुक्त जीव में चेतना नहीं रहती, अतः मुक्त आत्मा का दूसरी आत्माओं अथवा ईश्वर से भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता । क्योंकि न्यायमत में चेतन आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं हैं, यह गुण शरीर, मन आदि के सम्पर्क से उत्पन्न होता है तथा ज्ञान का अधिकरण होने पर भी जीवात्मा स्वभाव से ज्ञान रहित है । आशय यह है कि मुक्ति का अर्थ ईश्वर का सम्पर्क अथवा ईश्वर के आनन्द से आनन्दित होना नहीं है । यही कारण है कि श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधचरित' में नैयायिकों का उपहास करते हुए कहा है-'गौतम ने मोक्षावस्था को शिला का रूप दे दिया हैं'.[56] यह सत्य है कि न्याय-दर्शन में अपवर्ग का विचार केवल अभावात्मक है । अपवर्ग केवल दुःख-निवृत्ति-रूप ही नहीं है, वह निरतिशय सुख भी है । पर ध्यातव्य है कि न्याय-दर्शन का आविर्भाव बौद्धों के अनात्मवाद के विरूद्ध नित्य आत्मा का प्रतिपादन करके हुआ है । परवर्ती न्यायाचार्यों के अनुसार ईश्वर परमात्मा है । वह ज्ञान या इच्छा से रहित नहीं है, बल्कि केवल सुख-दुःख तथा राग-द्वेष से रहित है और इसलिए सक्रिय रहता हुआ भी कदापि स्वार्थपूर्ण कर्म में प्रवृत्त नहीं होता । अतः इस दृष्टिकोण से संसार में मानव का प्रयत्न तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, स्वार्थपरता का पूर्णतः त्याग करके इच्छा के परिस्कार, दुःख को सहने और द्वेष के पूर्ण उत्मूलन के लिए होना चाहिए । यह एक ऐसा आदर्श है जिसका परलोक में चाहे जो फल हो

लेकिन इस लोक में भी जो अच्छाई से रिक्त नहीं है ।

न्यायाचार्य जयन्त भट्ट की भाँति शंकर भी मानते हैं कि आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है ।[57.] दूसरी परिभाषा यह है कि अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है, वही ब्रह्म प्राप्ति है । मोक्ष और अविद्या-निवृत्ति एक ही है ।[58.] अविद्या विपरीत ज्ञान से दूर होती है । वेदान्त भी न्याय की भाँति मानता है कि मोक्ष दुःखाभाव है, अपितु वेदान्त का दृष्टिकोण भावात्मक भी है । इसके अनुसार मोक्ष निरतिशय आनन्द या सुख भी है । क्योंकि आत्मा अपने वास्तविक रूप में असीम, नित्य और सच्चिदानन्द है, उसमें परिच्छिन्नता, अनित्यता, दुःखरूपता आदि की प्रतीति अविद्या का कारण है । वेदान्त मानता है कि किसी वस्तु के स्वाभाविक धर्म का उच्छेद नहीं हो सकता । यदि अविद्या या अज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक धर्म माना जाय तो उसका कभी निराकरण न हो सकेगा । अग्नि की उष्णता को कभी उससे पृथक् नहीं किया जा सकता । अतएव मोक्ष रस-रूप है रसो वैसः । साथ ही न्याय की भाँति शाश्वत भी है । मोक्ष का ज्ञान प्राप्त करना वास्तव में जो नित्य प्राप्त है उसकी प्राप्ति है और जो नित्य निवृत्त है उसकी निवृत्ति है ।

अतएव वेदान्त की अवधारणा में मोक्ष प्राप्त करने का मतलब यहाँ जीव का स्वयं को वह समझ लेना है जो हमेशा से उसका सहज स्वरूप रहा है, लेकिन जिसे वह कुछ समय के लिए भूल गया है । उपनिषद् वाक्य है 'तत् त्वम् असि' (वह तू है), 'तत् त्वं भव' (वह तू हो जा) नहीं ।

विस्मृत जीवात्मा को सच्चिदानन्द की प्रत्यभिज्ञा का साधन क्या है? शंकर मत में मोक्ष का साक्षात् कारण ज्ञान है, क्योंकि मोक्ष आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, इसलिए वह नित्य-पदार्थ है । नित्य-पदार्थ किसी क्रिया का कार्य नहीं होता, इसलिए मोक्ष कर्म द्वारा साध्य नहीं है । यही कारण है कि शंकर ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का घोर विरोध करते हैं । इसका यह मतलब नहीं कि शंकर कर्म, ध्यान, उपासना

आदि को महत्त्वपूर्ण और उपयोगी नहीं मानते हैं । प्रकारान्तर से ये सब चित्त-शुद्धि के साधन है, शुद्ध चित्त ही 'ज्ञान' प्राप्ति के योग्य होता है ।

किन्तु क्या ज्ञान जो स्वयं मोक्ष उत्पन्न करता है एक क्रिया नहीं है; क्योंकि वह भी मानस क्रिया है । शंकर इसका उत्तर नहीं में देते हैं । क्रिया सदा कर्त्ता पुरूष की इच्छा पर निर्भर है, वह चाहे उसको करे या न करे या अन्यथा करे, प्रत्येक यज्ञ कर्म इस प्रकार की क्रिया है, ध्यान की ऐसी क्रिया है । इसके विपरीत ज्ञान कर्म के समान किये जाने, न किये जाने और अन्यथा किये जाने के विकल्पों से रहित है, वह पुरूष-व्यापार के अधीन नहीं है; किन्तु ज्ञेय विषय के गुण पर निर्भर [वस्तु-तन्त्र] है । उदाहरण के लिये पंचाग्नि-विद्या में कहा जाता है, 'पुरूष अग्नि है', 'स्त्री अग्नि है', तो यह पुरूष या स्त्री की अवधारणा अग्नि रूप में करने का आवाहन है और इसकी सिद्धि अवधारणा करने वाले की पसन्द पर निर्भर है, इसके विपरीत प्राकृतिक अग्नि का ज्ञान किसी आवाहन या पुरूष के व्यापार पर निर्भर नहीं है, किन्तु उस विषय पर आधारित है जो आँखों के सामने है और इस प्रकार यह ज्ञान है, क्रिया नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान ब्रह्म के स्वरूप पर निर्भर है न कि किसी के आवाहन पर । ब्रह्म वस्तुतन्त्र है जिसमें हम किसी प्रकार का परिर्वतन नहीं कर सके । अनुभवावसान, प्रमाणजन्य और वस्तुतन्त्र ज्ञान को न तो सैकड़ों विधियाँ बना सकती हैं और न सैकड़ों निषेध हटा सकते हैं ।[59.] ज्ञान में कोई क्रम और पौर्वापर्य भी नहीं होता है । जब ज्ञान उदय होता है तो सदैव के लिए उदय होता है और एक साथ बिना किसी क्रम के अज्ञान की निवृत्ति कर देता है । अज्ञान की निवृत्ति होते ही मोक्ष भी यहीं और अभी अत्रैव और अधुनैव होता है । इसी का नाम जीवन-मुक्ति है ।

जीवन्मुक्ति के जीवन की दो अवस्थाएँ होती है, एक समाधि की अवस्था होती है, जिसमें वह अन्तर्मुखी होता है और स्वयं को ब्रह्म में लीन कर देता हैं और दूसरी व्युत्थान की अवस्था होती है जिसमें संसार का दृश्य उसे दिखाई देता

है । लेकिन उसे भ्रान्त नहीं करता, क्योंकि उसके मिथ्यात्व का उसे स्थायी ज्ञान हो चुका होता है । तब भी नानात्व उसी तरह से दिखाई देता रहता है जिस तरह सूर्य की स्थिरता का विश्वास हो जाने के बाद भी हमें सूर्य पहले की तरह चलता दिखाई देता है । जीवन्मुक्त सुख-दुःख का अनुभव करता है, लेकिन किसी का भी उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रहता । यह जरूरी नहीं है कि वह कर्म का पूरी तरह त्याग कर दे, जैसा कि स्वयं शंकर के कर्मरत जीवन से काफी अच्छी तरह से प्रमाणित होता है। परन्तु जीवन्मुक्त किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर या अन्यों के प्रति कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर भी कर्मरत नहीं होता । वह वस्तुतः गीता का स्थित प्रज्ञ बन जाता है । स्थितप्रज्ञ संसार के सुख-दुःख, हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति से विचलित नहीं होता । यह स्थिति ही मोक्ष है ।

चूँकि मोक्ष आत्मा का स्वरूप ही है-- आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति है-- और आत्मा नित्य है, इसलिए यह कहना गलत है कि मोक्ष की उत्पत्ति होती है ।

शंकर और उनके अनुयायी यह बतलाने की चेष्टा करते है कि यद्यपि ज्ञान का फल मोक्ष है 'ज्ञानादेवमुक्तिः' । ज्ञान के अभाव में मोक्ष नहीं मिलता है । लेकिन सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा, का शुद्ध स्वरूपावस्थान कैसे संभव है अथवा व्यावहारिकता में कैसे अपोहत्व प्राप्त हो ? शंकर के मतानुसार वेदान्त के मुमुक्षु को साधन-चतुष्टय का अनुभवी होना चाहिए । साधन चतुष्टय है-- (1) नित्यानित्य वस्तु विवेक (2) इहामुत्रार्थफलभोगविराग: (3) शमदमादिसाधनसंपत् (4) मुमुक्षुत्व ।

ये चतुष्टय-साधन मुमुक्षु में उपयुक्त योग्यता ले आता है । इस प्रकार इन्द्रिय, मन, तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त करने पर ऐसे गुरू से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो स्वयं ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर चुका हो । इससे उसको श्रवण होगा । श्रवण के अनन्तर उसे मनन करना चाहिए । इस लक्ष्य श्रद्धा से मानी हुई (ब्रह्मात्मवाद) बात को अपनी व्यक्तिगत आस्था में परिणत कर देना है । इससे भली-भाँति प्रकट हो जाता है कि अद्वैत में तर्क का क्या स्थान दिया गया है । अनुषंगत: यह बात ध्यान देने

की है कि अद्वैत का जिसका अन्तिम लक्ष्य अपरोक्षानुभूति है, विश्लेषणात्म विचार का महत्त्व स्वीकार करना एक विलक्षण सी बात है । मनन से बौद्धिक आस्था प्राप्त होती है । जीवो ब्रह्मैव नापरः अर्थात् ब्रह्मात्म के स्वरूप का, जो वेदान्त सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु है, ध्यान करते रहना ही निदिध्यासन है । जब तक इष्ट आन्तः प्रज्ञ ज्ञान की उत्पत्ति न हो जाए और यह तादात्म्य अपरोक्ष न हो जाए, तब तक इसे चलते रहना चाहिए । जब इस तादात्म्य की अपरोक्षानुभूति हो जाती है, तब साधक जीवन्मुक्त हो जाता है ।

मण्डन-मिश्र तथा भामती-प्रस्थान में ज्ञानोत्पत्ति में इन तीनों (श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन) को हेतु माना जाता है । वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि श्रुतिज्ञान से जीव परमात्मा को जानता है, फिर वह युक्ति से उस ज्ञान को व्यवस्थित करता है, फिर वह शंकारहित इस श्रुतिज्ञान का सतत ध्यान करता है ।[60.] विवरण-प्रस्थान में श्रवण को ही प्रधान हेतु माना जाता है और उसके उत्तरवर्ती काल में होने वाले मनन तथा निदिध्यासन को केवल उसमें आराद् उपकारक समझा जाता है ।[61.]

मनन के लिए वेदान्त-दर्शन की अपनी मौलिक विधि है । जिसे अध्यारोप और अपवाद की विधि कहते हैं । जिससे प्रपंचरहित ब्रह्म का ज्ञान होता है ।[62.]

यद्यपि अद्वैत-वेदान्त में केवल ज्ञान ही मोक्ष में आसन्न हेतु है । पर कुछ वेदान्ती भक्ति को भी मोक्ष में हेतु मानते हैं । वेदान्त परिभाषाकार धर्मराज अध्वरीन्द्र के अनुसार सगुण उपासना भी चित्त-एकाग्रता के द्वारा निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म साक्षात्कार में कारण होती है ।[63.] यद्यपि सगुण उपासना निर्विशेष ब्रह्म में साक्षात्कार कारण नहीं है । उसका साक्षात् फल चित्त की एकाग्रता है । निर्विशेष ब्रह्म साक्षात्कार में चित्त की एकाग्रता भी अपेक्षित है और चित्त की एकाग्रता सगुण उपासना से होती है । कल्पतरूकार अप्पय दीक्षित का स्पष्टतः कहना है कि जो निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं है, ऐसे मन्दबुद्धि (मन्द का अर्थ गया-बीता नहीं है,

किन्तु चित्त स्वाधीन न होने के कारण उन्हें मन्द कह दिया जाता है; क्योंकि सगुण ब्रह्म की उपासना से मन को वश में कर लेने पर, निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार वेदान्त विचार द्वारा उन्हें भी हो जाता है ।

सगुण उपासना से केवल क्रम-मुक्ति प्राप्त होती है, सद्यो-मुक्ति नहीं ❘ सद्योमुक्ति ज्ञान से ही मिलेगी । इस प्रकार के ज्ञान के बाद भक्ति संभव नहीं है । परन्तु यदि कोई स्वीकार करें कि ज्ञान ब्रह्मभाव है और ब्रह्मभाव ब्रह्म की सत्ता का भजन है तो इस भक्ति तथा ज्ञान में कोई अंतर नहीं है । ऐसी स्थिति में हम भक्ति को मोक्ष का साक्षात् हेतु मानें या ज्ञान को मानें, कोई अन्तर नहीं आता । आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति और ज्ञान का अच्छा समन्वय प्रस्तुत किया है । उनके कारण अद्वैतवेदान्त में भक्ति को सम्मानपूर्वक स्थान मिला । उन्होंने पराज्ञान को पराभक्ति माना है । पर यह सभी मानते हैं कि भक्ति मध्य ज्ञान है । 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते'

मोक्ष इस जीवन में भी मिल सकता है और इस जीवन के बाद भी । पहले को जीवन्मुक्ति कहते हैं और दूसरे को विदेहमुक्ति । जीवन्मुक्ति में शरीर विद्यमान रहता है । विदेहमुक्ति इस शरीर के नाश के बाद प्राप्त होती है । मुक्ति के बारे में एक दूसरा विवाद है कि मुक्ति सद्योमुक्ति है या क्रममुक्ति है? सद्योमुक्ति ज्ञान होते ही मिलती है; किन्तु फिर भी उसको जीवन्मुक्ति नहीं कहा जाता, क्योंकि उसमें मुक्त पुरुष का शरीर नहीं रहता है । इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा तथा मण्डन मिश्र सद्योमुक्ति के समर्थक हैं । क्रममुक्ति वह है जो क्रमशः प्राप्त होती है । देवयान मार्ग से चलने वाले मनुष्य जिस ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं वही क्रममुक्ति है । यह सापेक्षिक मुक्ति है क्योंकि वह प्रलय-पर्यन्त ही रहती है । प्रलय के बाद जब पुनः सृष्टि होती है तो ब्रह्मलोक के निवासी पुनः मृत्युलोक में आ जाते हैं । रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क प्रभृति वेदान्ती क्रममुक्ति में विश्वास करते हैं ।

न्याय-दर्शन विदेहमुक्ति का समर्थन करता है । इसके विपरीत शांकर-दर्शन, सुरेश्वराचार्य, वाचस्पति आदि जीवन्मुक्ति को मानते हैं । मण्डन मिश्र विदेहमुक्ति

को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं । जीवन्मुक्त केवल साधक होते हैं, सिद्ध नहीं ।[64] न्यायाचार्य उद्योतकर की भाँति परिमलकार अप्पयदीक्षित ने भी मुक्ति तथा परममुक्ति में भेद किया है तथा मुक्ति में जीव की ईश्वरभावापत्ति को और परममुक्ति में निर्विशेषब्रह्मभावापत्ति को स्वीकार किया है ।[65]

मुक्ति के प्रसंग में एक अन्य समस्या उठती है कि वह एक मुक्ति है या सर्व-मुक्ति ? एक मुक्ति का अर्थ केवल एक मनुष्य का मुक्त होना है और सर्वमुक्ति का अर्थ सभी मनुष्यों का मुक्त होना है । जो वेदान्ती एक जीववादी हैं वे एकमुक्ति को मानते हैं । उनके मत से अन्य जीव हैं ही नहीं । अतः सर्वमुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । किन्तु नानाजीववादी मानते हैं प्रत्येक जीव केवल अपने मोक्ष को प्राप्त करता है ।

स्पष्ट है कि वेदान्ती सर्वमुक्ति को नहीं मानते हैं । उनके मत से प्रत्येक जीव को अपने मोक्ष के लिए प्रयत्न करना है । एक जीव दूसरे जीव की सहायता करता है, कर सकता है। वह गुरु हो सकता है और पथ-प्रदर्शन कर सकता है । किन्तु प्रत्येक जीव को स्वयं ज्ञान प्राप्त करना और मुक्त होना है । न्याय तथा वेदान्त दोनों दर्शनों के आचार्य परम्परा तथा साहित्य के अतिरिक्त तत्त्व-ज्ञान और मोक्ष-सप्रत्यय पर उपर्युक्त विचार करने से साफ झलकता है कि दोनो की ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि में काफी समता तथा विषमता जुड़ी हुई है । जिसका क्रमवार विवेचन अधोलिखित है:-

न्याय तथा वेदान्त के आचार्यों का चिंतन आस्तिक परम्परा का द्योतक है । दोनों वेद में दृढ़ विश्वास रखते हैं। वेदान्त का साहित्य विस्तृत और विशाल है, इस दृष्टि से उसकी तुलना न्याय के साहित्य से की जा सकती है । वास्तव में भारतीय दार्शनिकों की मोक्ष शास्त्र और प्रमाण शास्त्र दोनों में समान रुचि रही है । मोक्षशास्त्र की दृष्टि से वेदान्त का विशेष महत्त्व है और प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से न्याय का ।

न्याय-दर्शन की तत्त्वमीमांसा वस्तुवादी है । न्याय यह जिज्ञासा नहीं रखता कि वस्तुएँ स्वतः क्या हैं, बल्कि इस बात में रुचि लेता है कि कैसे उनकी जानकारी या सिद्ध होती है । संभवतः इसीलिए प्रो० जैकोबी आदि विद्वान यह मानते हैं कि उसमें तत्त्वमीमांसीय अंश बाद में जोड़ दिया गया है ।[66]

प्राचीन न्याय-दर्शन ने सर्वप्रथम ज्ञान-मीमांसा को तत्त्व-मीमांसा से भिन्न करके एक शास्त्र के रूप में रखा । नव्य-न्याय ने इस प्रक्रिया को और आगे बढ़ाया और इसने न्याय-दर्शन विषय का केवल प्रमाण-मीमांसा निश्चित किया । यद्यपि ज्ञान-मीमांसा कभी भी भारतीय दर्शन में तत्त्वमीमांसा से पूर्णतया स्वतंत्र न हो सकी, तथापि नव्य-न्याय ने इस ओर जो विकास किया है उसका फल आधुनिक युग में दिखालायी पड़ने लगा है और ज्ञान-मीमांसा एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में स्थापित हो गयी है ।

वेदान्त-परम्परा में न्याय-प्रणाली का प्रत्यक्ष श्रीहर्ष-रचित 'खण्डनखण्डखाद्य', तथा वेदान्त-परिभाषा के प्रणेता धर्मराज अध्वरीन्द्र में किया जा सकता है । धर्मराज ने गंगेश-प्रणीत "तत्त्व-चिन्तामणि " पर 'तर्क-चूणामणि' लिखकर न्याय से अपने को सम्बद्ध किया है । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्त के मध्यकालीन आचार्य न्याय-दर्शन के आकर्षण से अपने को असम्पृक्त न रख सकें ।

टिप्पणी :-
======

(1) पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश: ।।
—याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/3

(2) गंगानाथ झा, पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेज (बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, 1943), पृ0 3

(3) ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि----वाकोवाक्यमेकायनं----अध्येमि ।
—छान्दोग्योपनिषद्, 7/1/2

(4) प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा ।
तया प्रवर्त्तते इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् ।
----वात्स्यायन, न्यायभाष्य, 1/1/1

(5) डा0 सतीश चन्द्र विद्याभूषण, हिस्ट्री ऑव इण्डियन लॉजिक, (कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1921) पृ0 5

(6) डा0 सुरेन्द्र नाथ दास गुप्ता-- ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लॉजिक (मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी) प्रथम भाग, पृ0 278

(7) डा0 उमेश मिश्र--भारतीय दर्शन (हिन्दी समिति, लखनऊ, 1975), पृ0 27

(8) डा0 एम0 हिरियन्ना—'भारतीयदर्शन की रूपरेखा', राजकमल प्रकाशन, 1980 ।

'प्राचीन' और 'नवीन' शब्द न्याय के इतिहास के उन्हीं कालों के लिए सदैव प्रयुक्त नहीं होते । एक काल में जो नवीन कहलाता है, वह कालान्तर में 'प्राचीन' कहला सकता है ।

(9) इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम् ।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ।।
--- वाचस्पति मिश्र-'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका'-मंगलाचरण ।

(10) इसका प्रारम्भिक अंश कुछ वर्ष पूर्व एशियाटिक सोसाइटी (कलकत्ता) से प्रकाशित हुआ था । इधर मिथिला विद्यापीठ (दरभंगा) से पुनः उसका प्रथम अध्याय छपा है ।

(11) वह ग्रन्थ 1968 ई० में वाराणसी से प्रथम बार प्रकाशित हो चुका है ।

(12) वास्तव में मिथिला न्याय की जन्म-भूमि ही नहीं है, बल्कि न्याय के विकास में भी इसका सर्वाधिक हाथ रहा है । महर्षि गौतम, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, पक्षधर मिश्र, रुचिदत्त, शंकरमिश्र जैसे उद्भट नैयायिक मिथिला में ही पैदा हुए । मिथिलावासी आज भी बड़े गर्व से कहते हैं—

शंकरवाचस्पत्योः शंकरवाचस्पती सदृशौ ।
पक्षधरप्रतिपक्षी लक्ष्मीभूतो न च क्वापि ।।
- काशीनाथ- न्यायशास्त्र की रूप-रेखा (चतुर्थ संस्करण, 1978), पृ० 8

(13) सदानन्द-वेदान्तसार (जीवानन्द संस्करण, कलकत्ता), पृ०- 7

(14) मुण्डकोपनिषद्, 3/2/6

(15) पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः,
- पाणिनि- अष्टाध्यायी, 4/3/110

(16) वेदान्तवाक्यकुसुमग्रंथनार्थत्वात् सूत्राणाम् ।
- शंकराचार्य- शारीरिकभाष्य, 1/1/2

(17) यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतो स्मि ।
- आदिशंकराचार्य-माण्डूक्यकारिकाभाष्य, अन्तिमपद्य ।
(गीताप्रेस, गोरखपुर)

(18) वेदान्तसम्प्रदायविद्भिराचार्यैः । सम्प्रदायविदो वदन्ति ।
शारीरकभाष्य (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1927)

(19) एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैरर्थः प्रभाषितः ।
सुरेश्वराचार्य-नैष्कर्म्यसिद्धिः, (सं० प्रो० एम० हिरियन्ना, बम्बई, 1925) । , पृ०-44

(20) विधुशेखर भट्टाचार्य, 'दि आगम शास्त्र ऑव गौड़पाद' (कलकत्ता, 1943)

(21) विश्व के दार्शनिकों में शंकराचार्य का स्थान सर्वोच्च है । उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध लोकोक्ति है--

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने वने ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्तकेशरी ।।

तुलना कीजिए ग्रीक तत्त्वज्ञानी अफलातून से- जो पाश्चात्य दर्शन के पिता माने गये हैं तथा सम्पूर्ण पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा को अफलातून के सिद्धान्तों पर पाद-टिप्पणी कहा गया है ।

ह्वाइटहेड— प्रासेज एण्ड रियलटी, पृ0-63

(22) अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित् ।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशेमुनिरभ्यगात् ।।

(23) ए0 जे0 एयर, मेटाफिजिक्स एण्ड कॉमनसेन्स, लन्दन, दि मैकमिलन प्रेस लिमि0, पेपरबैक, 1973, पृ0-67

(24) प्रो0 संगमलाल पाण्डेय का लेख, अथोन्टिक वर्क्स ऑव शंकर, उमेश मिश्र, कमेमोरेशन वाल्यूम, गंगानाथ झा रिसर्च, इन्स्टीच्यूट जर्नल, पृ0-161--177

(25) नहि श्रुतिशतमपि शीतोऽग्निरप्रकाशो वेति ब्रुवत् प्रामाण्यमुपैति ।
शंकराचार्य--गीताभाष्य (गीताप्रेस, गोरखपुर), 18/6

(26) बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे ।
शंकराचार्य-कठभाष्य (गीताप्रेस,गोरखपुर), 6/12

(27) न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ।।
उदयनाचार्य--न्यायकुसुमाञ्जलि (चौखम्भा,वाराणसी), 1/3

(28) दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, द्वितीय भाग (मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी), पृ0- 146

§29§ जयन्तभट्ट-न्यायमञ्जरी §चौखम्बा, वाराणसी, 1936§

§30§ केशवमिश्र-तर्कभाषा §चौखम्बा, वाराणसी, 1963§, प्रमेय-निरूपण-प्रकरण ।

§31§ स चेतनश्चिता योगात् तद्योगेन बिना जड़ ।

न्यायमञ्जरी ।

§32§ उदयनाचार्य- न्यायकुसुमाञ्जलि ।

§33§ गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वर: ।

वात्स्यायन- न्यायभाष्य, 4/1/21

§34§ वेदस्य पुरुष: कर्त्ता न हि यादृशतादृश: ।
किन्तु त्रैलोक्यनिर्माणनिपुण: परमेश्वर: ।।
स देवो परमो ज्ञाता नित्यानन्द: कृपान्वित: ।
क्लेशकर्मविपाकादि परामर्शं विवर्जित: ।।

जयन्त भट्ट- न्यायमञ्जरी, भाग-प्रथम, पृ0-165 तथा
विश्वनाथ पंचानन कृत सिद्धान्तमुक्तावली की दिनकरीय टीका, पृ0-46

§35§ तस्य भोगायतनम् अन्त्यावयवि शरीरम् ।

केशवमिश्र- तर्कभाषा

§36§ बन्धनिमित्तं मन: ।
न्यायमञ्जरी, पृ0- 499

§37§ वेदान्तपरिभाषा पर विद्यानन्द जिज्ञासु की टीका-श्लोक पाँच ।

§38§ मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थत: ।

गौड़पाद- माण्डूक्यकारिका §गीताप्रेस, गोरखपुर§, 1/16

§39§ वितथस्य भावो वैतथ्यम्, असत्यत्वम् इत्यर्थ: ।

शंकराचार्य- माण्डूक्यकारिकाभाष्य, 2/1

(40) अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ।
वही, 1/16

(41) कल्पयत्यात्मनाऽऽत्मानमात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ।।
माण्डूक्यकारिका, 2/12

तुलनार्थ- सर्व वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया व साक्षिचैतन्यस्य विषय एवं
विद्यारण्य-विवरणप्रमेयसंग्रह (विजयनगरम् संस्करण), पृ0-17

(42) विज्ञानवादिनो बौद्धस्य वचनं बाह्यार्थवादिपक्षप्रतिषेधपरमाचार्येणानुमोदितम् ।
माण्डूक्यकारिकाभाष्य, 4/28

(43) आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् ।
प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्ध्यति ।।
शंकराचार्य- शारीरिकभाष्य, 2/3/7

(44) तुलनार्थ- पाश्चात्य विचारक डेकार्ट की अवधारणा-'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' (अहं चिन्तयामि अतोऽहमस्मि) । वह मानता है कि संशय स्वयं ज्ञानस्वरूप होने के कारण आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करता है ।

(45) आत्मव्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मैव सर्वम् ।
शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य (गीताप्रेस, गोरखपुर), 2/4/6

(46) जगतश्च यन्मूलं तत्परिज्ञानात् परं श्रेय इति सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः ।
शंकराचार्य- प्रश्नोपनिषद् (गीताप्रेस, गोरखपुर), 6/1

(47) भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।
शंकराचार्य-मुण्डकोपनिषद्भाष्य (गीताप्रेस, गोरखपुर) 2/2/8

§48§ 'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा 'विवर्त' अत्युदाहृत: ।'

प्रो० उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन §1975§, पृ०-355

§49§ जीवो ब्रह्मैव नापर: ।

कुछ वेदान्ती केवल एक ही प्रकार की सत्ता मानते हैं । कुछ व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताओं में कोई भेद नहीं करते । ऐसे लोगों के मतानुसार जाग्रतावस्था भी सत्ता स्वप्नावस्था से श्रेष्ठ नहीं हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक में जो सत्य है, उसका दूसरी में अपलाप हो जाता है ।

§50§ यथा-यथा भवेत्पुंसां व्युत्पत्ति: प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेय सा साध्व्यत्रानवस्थिता ।।

सुरेश्वराचार्य- वृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक, 1/4/402

§51§ सदानन्द- वेदान्तसार, पृ०-36-45

वास्तव में तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को क्रमश: अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय- बताया गया है । यह उपदेश वरुण ने भृगु को एक क्रम से दिया है । उन्होंने सम्पूर्ण सत्य का उद्घाटन सहसा एक बार ही नहीं किया । उनकी विधि का उद्देश्य शिष्य को शनै:-शनै: उच्चतर सत्य का अधिकारी बनाना है । इसी विधि को अरून्धती न्याय कहा जाता है ।

§52§ न्यायमञ्जरी, भाग-2, पृ०-80

§53§ न तत्त्वज्ञानस्य अनुत्पत्तिमात्रम्-वात्स्यायन-न्यायसूत्र-भाष्य, 4/2/1

§54§ न्याय-सूत्र, 1/1/1

§55§ दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये-तदनन्तरापायाद् अपवर्ग:, न्यायसूत्र, 1/1/2

(56) मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।

श्रीहर्ष-नैषधचरितम् (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई), सर्ग 17, श्लोक, 75

(57) स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः ।

शंकराचार्य तैत्तरीयोपनिषद्भाष्य(गीताप्रेस, गोरखपुर), 1/11

(58) अविद्यापगममात्रत्वात् ब्रह्मप्राप्तिफलस्य ।

शंकराचार्य-बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, 1/4/10

फलं च मोक्षो विद्या निवृत्तिर्वा । वही, 1/4/7

(59) शंकराचार्य- शारीरकभाष्य, 3/2/2

(60) वाचस्पति मिश्र-भामती (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई), 1/1/1

(61) वेदान्तपरिभाषा, प्रयोजन-परिच्छेद तथा 'दशमस्त्वमसि' की प्रसिद्ध आख्यायिका ।

(62) अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चम् प्रपञ्चयन् ।

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, 275

(63) मुसलगांवकर, वेदान्तपरिभाषा पर टीका, पृ0-399

(64) स्थितप्रज्ञस्तावन्न-----प्राप्त स्यात् ।

मण्डनमिश्र- ब्रह्मसिद्धिः (मद्रास, 1937) पृ0-130

(65) निर्विशेषब्रह्मभावप्राप्तिः परममुक्तिः ।

अमलानन्द-वेदान्तकल्पतरुपरिमल(निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1938), 1/4/3

(66) डा0 नन्दकिशोर देवराज- भारतीय-दर्शन (उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, 1978) पृ. 260

द्वितीय अध्याय

वेदान्त परिभाषा के प्रणेता धर्मराजाध्वरीन्द्र

(i) काल- निर्धारण

(ii) व्यक्तित्व एवं कृतित्व

(iii) वेदान्त परिभाषा पर प्रमुख टीकायें

(iv) वेदान्त परिभाषा की विशिष्टता

वेदान्तपरिभाषा के प्रणेता धर्मराज अध्वरीन्द्र

§1§ काल-निर्धारण:-

प्राचीन भारतीय आचार्यों को अपना परिचय छिपाने की विचित्र आदत है । बादरायण का समय और उनकी जीवनी पूर्णतः अज्ञात है । भारतीय परम्परा में इसका साक्षात्कार मेधा की अन्य विधाओं में भी किया जा सकता है । गवेषणा से इसके मूल में जो सद्भाव झलकता है, वह यह है कि-तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में स्नातक को उपदेश देते हुए आचार्य कहते हैं— हे स्नातक ! हमने जो-जो अच्छे कर्म किये हैं, उन्हीं का तुम अनुसरण करना । मेरे निन्दनीय कर्मों का अनुसरण कभी न करना ।"[1] अनुषंगतः मैक्समूलर का दृष्टिकोण भी प्रासंगिक है । इनके अनुसार प्राचीन काल के भारतीयों का अपने महान् आचार्यों के जीवनवृत्तों के प्रति जो उपेक्षा-भाव मिलता है, उसका कारण उनका यह समझ लेना था कि व्यक्ति तो अपने समय की उपज होता है । जो उसके लिए पहले से बनी-बनाई होती है और ऐसे बौद्धिक वातावरण में साँस लेता है जिसका उसने स्वयं निर्माण नहीं किया । इसका कारण शायद यह भी कम नहीं था कि वे महान् आचार्य विनयपूर्वक अपनी 'रचना' को अति तुच्छ समझते थे । शंकर-जैसा महान् आचार्य तक हमारे लिए अब मात्र एक नाम रह गया है । कॉवेल ने कुसुमांजलि §अंग्रेजी अनुवाद§ की भूमिका में प्रसिद्ध नैयायिक उदयन, के बारे में लिखा है:"वह भारत के साहित्य- गगन में एक स्थिर तारे के समान देदीप्यमान है, किन्तु कोई दूरवीक्षण-यंत्र ऐसा नहीं है जो उसके व्यास की थोड़ी सी जानकारी दे सकें, उसका नाम एक प्रकाश- बिन्दु है, परन्तु उसमें हम कोई भी पार्थिव या लौकिक चीज नहीं देख पाते ।" यह संदर्भ वास्तव में उन सभी महान् चिन्तकों पर लागू होता है जिनके कारण भारतीय विचारधारा का विकास हुआ है ।

धर्मराज अध्वरीन्द्र के भी जन्म-समय का कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं है । महामहोपाध्याय अनन्त कृष्ण शास्त्री ने वेदान्तपरिभाषा पर टीका लिखी है । पं० अनन्त कृष्ण शास्त्री के अनुसार धर्मराज अध्वरीन्द्र ने सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ

ी 'वेदान्तपरिभाषा' का प्रणयन किया था । उन्हीं के अनुसार परिभाषाकार धर्मराज "सिद्धान्तलेश संग्रहकार " अप्पय दीक्षित (1600 ई0 के लगभग) के परवर्ती थे ।[2]

(1) व्यक्तित्व एवं कृतित्व:-

'तर्कचूडामणि' नव्य-न्यायाचार्य गंगेश उपाध्याय प्रणीत 'तत्त्वचिन्तामणि' पर धर्मराज अध्वरीन्द्र की टीका है । इसके अनुसार वेदान्तपरिभाषाकार मद्रास के तंजौर जिले के 'कण्डूरमाणिक्कम्' ग्राम के निवासी थे । धर्मराज के अग्रज त्रिवेदी नारायण यज्वन् कौण्डिन्य गोत्रीय थे ।[3]

व्याख्याकार पं0 अनन्त कृष्ण शास्त्री के मत में कंडलगुंडी नटेश शास्त्री अपने को धर्मराज अध्वरीन्द्र का वंशज बताते हैं, ...

नटेश शास्त्री भी वेदान्त, ज्योतिष के उद्भट विद्वान थे । परिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र श्रीमद् वेंकटनाथ के पुत्र थे । ये अध्वरीन्द्र के विद्या गुरू भी थे, अपने विद्या गुरू को उन्होंने 'जगद्गुरु' कहकर सम्मानित किया है ।[4]

परिभाषाकार के परमगुरू (गुरू के गुरू) श्री नृसिंह थे । धर्मराज ने स्वयं ग्रन्थ के मंगलाचरण के द्वितीय श्लोक में श्री नृसिंह की वन्दना में लिखा है । जिनके शिष्यरूपी सिंहों ने भेदवान्दी गजों का निवारण किया है, उस यतिश्रेष्ठ नृसिंह नामक परम गुरू को मैं प्रणाम करता हूँ ।[5]

दर्शन के क्षेत्र में सामान्यतया तभी कोई कदम उठाने की सोच सकता है, जबकि जिस बात को वह स्वयं अनुभव करता है, उसका पहले किसी ने उल्लेख न किया हो या गलत अथवा अपूर्ण उल्लेख किया हो और दूसरा यह कि सम्बद्ध शास्त्र या ग्रन्थ के दुरूह होने के कारण उसके सामयिक सरलीकरण की आवश्यकता हो या उसके सम्बन्ध में जो आलोचना की गई हो उसका खण्डन अथवा मण्डन करना अपेक्षित हो ।

तार्किक शिरोमणि पण्डित प्रवर महामहोपाध्याय श्री धर्मराज अध्वरीन्द्र ने वेदान्त प्रतिपादित विषयों का जो विश्लेषण वेदान्तपरिभाषा में किया है उसमें इन दोनों ही तत्त्वों का प्रमुख हाथ रहा है । वेदान्त के तत्त्वबोध के लिए सूक्ष्म तथा प्रचुर वेदान्त साहित्य का प्रणयन हुआ है तथा वेदान्तसार प्रभृति संक्षिप्त ग्रन्थ भी बने हुए हैं, किन्तु अतिसंक्षिप्त होने के कारण उनमें वेदान्त की सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा तात्पर्य नहीं आए । साथ ही जिन बुद्धिमान् तथा निरलस लोगों को सूत्रभाष्यादि ग्रन्थों के अभ्यास से तत्त्वबोध होता है उन्हें इस ग्रन्थ की ऐसी आवश्यकता नहीं है । लेकिन जो निरपेक्ष ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है, मैं इस ग्रन्थ को मन्दबुद्धियों पर अनुग्रह करने के लिए लिख रहा हूँ ।[6]

गवेषणा से स्पष्ट हो चुका है कि भारतीय दार्शनिक अपने-अपने क्षेत्र में ही सीमित नहीं रहते थे, वरन् उनमें पारस्परिक आलोचनाएँ चलती रहती थीं । वस्तुतः भारतीय दार्शनिकों में प्रतिपक्षी के आक्षेप का युक्ति-पूर्वक खण्डन करने की एक प्रथा चल गयी थी । इसी पारस्परिक आलोचना के फलस्वरूप भारत में सहस्रों दार्शनिक ग्रन्थों की रचना हो गई है । उदाहरण के लिए वाचस्पति मिश्र का उल्लेख प्रासंगिक होगा । वाचस्पति मिश्र (मिथिला) के प्रकाण्ड विद्वान थे । इन्होंने सभी दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं । इन्हें विद्वान लोग 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' कहते हैं । न्यायाचार्य उद्योतकर के 'वार्त्तिक' पर 'तात्पर्यटीका' इन्होंने लिखी है । इसके मंगलाचरण में वाचस्पति ने लिखा है---

इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम् ।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ।।

आलोचना-प्रत्यालोचना का एक दूसरा परिणाम यह हुआ है कि भारतीय दर्शनों में अपने विचारों को स्पष्ट तथा अभ्रांत रूप से व्यक्त करने का एक व्यसन हो गया है । अपने विचारों को सर्वथा दोष-रहित तथा आक्षेप-हीन बनाने के लिए वे स्वभावतः प्रयत्न करते थे ।

वेदान्तपरिभाषा के रचयिता धर्मराज अध्वरीन्द्र वेदान्त और न्याय दोनों उद्भट विद्वान हैं । मंगलाचरण के चतुर्थ श्लोक में ग्रन्थकार ने अपना वैदुष्य, कृति था उस कृति की विद्वानों के समाज में मान्यता का स्पष्ट प्रतिपादन किया है ।[7]

साथ ही 'वेदान्तपरिभाषा' श्रीहर्ष प्रणीत खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखाचार्य रचित तत्त्वदीपिका', मधुसूदनसरस्वती कृत 'अद्वैतसिद्धि' आदि ग्रन्थों की भाँति तर्क प्रधान रचना है, इस बात को भी सूचित किया है । यद्यपि वेदान्त विरुद्ध अनेक मतों का खण्डन इस ग्रन्थ में हैं फिर भी न्याय-वैशेषिक का खण्डन प्रधान रूप से किया गया है । खण्डन करने वाले को खण्डन करने के लिए खण्डनीय मत का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये अन्यथा खण्डन में सफल नहीं हो सकता । अतएव तर्कशास्त्र का मुझे यथार्थ ज्ञान है, इस बात को सूचित करने के लिए अपनी विद्वत्ता का स्मरण कराया है, न कि वैदुष्य ख्यापन अथा औद्धत्य प्रदर्शन के लिए ।

गौतम-सूत्र, भाष्य, वार्त्तिक, तात्पर्य एवं तात्पर्य परिशुद्धि इत्यादि प्राचीन-न्याय के ग्रन्थ हैं। बिहार प्रदेश के मिथिला निवासी श्रीगंगेश उपाध्याय ने नव्य-न्याय के आदि ग्रन्थ 'तत्त्व-चिन्तामणि' की रचना की है, जो विद्वानों की कसौटी है । उस समय नव्य-न्याय तत्त्वचिन्तामणि के ऊपर लेखनी उठाने वाला ही विद्वान माना जाता था । अतः इसके पूर्व 'तत्त्वचिन्तामणि' के ऊपर पूर्ण तर्कयुक्त दश टीकाएँ बन चुकी थीं । उन दश टीकाओं को सर्वथा निःसार तथा असंगत सिद्ध करने वाली तर्कशास्त्रों की चूड़ामणि होने से 'तर्कचूड़ामणि' नाम की टीका धर्मराज ने लिखी है । जिसे विद्वानों ने केवल सम्मान ही नहीं दिया, अपितु उनके (विद्वानों) मन को भी उस टीका ने अपनी ओर आकृष्ट कर लिया । और वे खुलकर उसकी प्रशंसा करने लगे । इसी को ग्रन्थकार ने विद्वत्मनोरमा पद से उल्लेख किया है । आशय यह है कि न्यायशास्त्र में मेरा पूर्ण अधिकार है एवं मेरा ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण तथा विद्वानों का सम्मान भाजन रहा है, इसे भी स्पष्ट किया है ।

परिभाषाकार ने मौलिक ग्रन्थ तथा टीकाएँ दोनों प्रकार की रचनाओं का प्रणयन किया है । वेदान्त पर उनके दो ग्रन्थ 'वेदान्तपरिभाषा' तथा 'पदयोजनिका',

है । वेदान्त परिभाषा विभिन्न प्रकाशनों से प्रकाशित हो चुकी है । दूसरी टेम्पल लाइब्रेरी तिरुविद्भुदर के हस्तलेख 4599 में द्रष्टव्य है ।

धर्मराज अध्वरीन्द्र की नव्य-न्याय पर 'तर्कचूड़ामणि' के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में 'युक्ति-संग्रह' (तंजौर लाइब्रेरी हस्तलेख-4764) और महामहोपाध्याय शशधर के 'न्याय-सिद्धान्त-दीप' पर "न्यायसिद्धान्तदीपप्रकाशिका" टीका प्रमुख है ।[8.] न्याय पर धर्मराज अध्वरीन्द्र के लेख का प्रकाशन अभी नहीं हुआ है । अतएव कहा जा सकता है कि परिभाषाकार ने परम्परागत वेदान्त के ग्रन्थों में विशिष्टता तो प्राप्त किया है, बल्कि इसके साथ ही समकालीन मेधावी लोगों के आकर्षण के केन्द्र नव्य-न्याय पर भी गहन चिंतन किया है । अतः पीटर स्ट्रासन के विचार धर्मराज पर पूर्णतः प्रासंगिक प्रतीत होते हैं । स्ट्रासन मानता है कि कोई दार्शनिक चिंतन अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुशीलन पर ही समकालीन परिप्रेक्ष्य में ग्रहणीय हो सकता है।[9.] परिभाषाकार ने 'नव्यन्याय' के आदि ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' का खण्डन किया है । 'नव्यन्याय' के अध्ययन में एक प्रकार का आनन्द भी है । इसी शास्त्र के पढ़ने वालों का विद्वन्मण्डली में आदर होता आया है । परम्परा से ज्ञात होता है कि नवीनता का आर्विभाव सायास न होकर अनायास हुआ है । न्यूटन द्वारा सेब गिरने पर विश्वविश्रुत नियम की स्थापना करना उपर्युक्त अभिप्राय का अप्रतिम उदाहरण कहा जा सकता है । इसी परम्परा में नव्यन्याय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक मनोरंजक किंवदन्ती का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा ।

एक बार पं० गंगेश उपाध्याय अपने दालान पर विद्यार्थियों को न्यायशास्त्र पढ़ा रहे थे । भीतर रसोई घर में उनकी पत्नी चूल्हा जला रही थीं । आर्द्र ईंधन के कारण बेचारी धुएँ से परेशान हो रही थीं । बार-बार फूँकने पर भी आग सुलगती ही नहीं थी । उधर दरवाजे पर गुरू-शिष्य रट लगाये जा रहे थे--

यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः

(जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ आग है)

पंडितानी जी झल्लाई हुई थीं ही । उन्हें पंडित जी को छकाने की एक तरकीब सूझ गई । उन्होंने झट एक घड़े में धुआँ भरकर उसे ढक्कन से बंद कर दिया । फिर पं० जी के सामने जाकर घड़ा पटक दिया । घड़ा फुटते ही धुआँ निकलने लगा । पंडितानी जी ने पूछा---

अत्र धूम: कुत्र वह्नि: ?

(यहाँ तो धुआँ है, आग कहाँ है?)

पंडित जी और विद्यार्थी सभी सन्न रह गये । यह बात तो आज तक सूत्रकार गौतम भाष्यकार वात्स्यायन, वार्त्तिककार उद्योतकर, टीकाकार वाचस्पति किसी को नहीं सूझी थी । एक स्त्री ने सभी आचार्यों को खंडित कर दिया । अब तो इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा, नहीं तो लोग कहेंगे कि पंडित जी अपनी पत्नी से परास्त हो गये । यह सोचकर पंडित जी ने पत्नी को शास्त्रार्थ के लिए प्रस्ताव रखा । बोले- "यह धुआँ तो अपने मूल (अपनी जड़ अर्थात् आग) से कटा हुआ है । मेरी प्रतीज्ञा है कि--

यत्र मूलावच्छेदेन धूम: तत्र वह्नि: ।

(अर्थात् जहाँ धुआँ अपनी जड़ से संयुक्त रहेगा, वहाँ आग अवश्य ही रहेगी) ।"

पंडितानी जी ने फिर शंका की जहाँ धुआँ अपनी जड़ (आग) से संयुक्त रहेगा, वहाँ तो आग प्रत्यक्ष ही रहेगी, फिर अनुमान की आवश्यकता ही क्या रह जायेगी ?

तब इस शंका का समाधान करने के लिए पंडित जी को दूसरी अवच्छेदकता[10] लगानी पड़ी । इस प्रकार पंडितजी एक-एक कर अवच्छेदकता लगाने लगे और पंडितानीजी कोई-न-कोई कमी दिखाकर उसे काटती गईं । अंततोगत्वा जब कई अवच्छेदकताएँ लगाई गईं, तब जाकर सिद्ध हुआ कि—

यत्र एतत् प्रकारक: धूम: तत्र एतत् प्रकारक: वह्नि:

(जहाँ अमुक प्रकार का धुआँ रहेगा, वहाँ अमुक प्रकार की आग रहेगी।)

इस तरह अवच्छेदकता का सूत्रपात एक दाम्पत्य परिहास से हुआ और नव्य-न्याय के प्रवर्तक पं0 गंगेश उपाध्याय को 'तत्त्वचिन्तामणि' लिखने की प्रेरणा मिली। उपर्युक्त संदर्भ के उल्लेख का आशय मात्र यह है कि कितनी असाधारण तार्किकता तथा सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा गंगेश ने अपने नवीन मत का निरूपण किया है। गंगेश ने 'गौतमसूत्र' में से 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' केवल एक मात्र सूत्र लेकर अमर कृति 'तत्त्वचिन्तामणि' का प्रणयन किया। माना जाता है कि इतना विशाल साहित्य किसी भी एक ग्रन्थ पर उपलब्ध नहीं होता जितना एक 'तत्त्वचिन्तामणि' पर। इसकी व्याख्या करना प्रखर मस्तिष्क का द्योतक माना जाता था। परिभाषाकार ने भी अपनी कृति 'तर्कचूडामणि' को नव्यन्याय के आदिग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' पर आधारित बताया है।

निष्कर्षतः धर्मराज अध्वरीन्द्र प्रणीत 'वेदान्तपरिभाषा' में अद्वैतवेदान्त, विशेषरूप से उसके तर्कशास्त्रीय और ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों का, तकनीकी और तन्त्रबद्ध वर्णन है।[11]

भारतीय परम्परा में स्थूल रूप से प्रत्येक दर्शन के विकास की अवस्थाएँ है— (1) धर्म-अवस्था (2) तत्त्वदर्शन-अवस्था (3) ज्ञानमीमांसा-अवस्था और (4) तर्कशास्त्र-अवस्था। उदाहरण के लिए बौद्धदर्शन को लिजिए। पहले गौतम बुद्ध और उनके अनुयायियों द्वारा बौद्ध धर्म का विकास हुआ। फिर वैभाषिकों तथा सौत्रान्तिकों द्वारा तत्त्वदर्शन का विकास हुआ। इस तत्त्वदर्शन के पश्चात् महायान की ज्ञान-मीमांसा का विकास हुआ। इसके बाद दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के न्यायशास्त्र का विकास हुआ। इसी प्रकार जैन दर्शन में पहले तीर्थंकरों द्वारा जैन धर्म का विकास हुआ। फिर उमास्वामी और कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा तत्त्वदर्शन का विकास हुआ। पूज्यपाद अकलंक, विद्यानन्द प्रभृति द्वारा ज्ञानमीमांसा का सम्यक् विकास हुआ। इसी प्रकार अद्वैतवाद में पहले वेदों और-उपनिषदों द्वारा वेदान्तधर्म का विकास हुआ। उसके पश्चात् शंकराचार्य द्वारा उसके तत्त्वदर्शन का विकास हुआ। तत्पश्चात्

उनके शिष्यों-सुरेश्वर और पद्मपाद द्वारा तथा विवरणकार, विवरण-प्रमेय-संग्रहकार प्रभृति द्वारा ज्ञानमीमांसा का विकास हुआ । श्रीहर्ष, चित्सुखी, मधुसूदन सरस्वती, धर्मराज अध्वरीन्द्र आदि द्वारा वेदान्त-तर्कशास्त्र का विकास हुआ । कतिपय भारतविश्रुत दार्शनिक मानते हैं कि वेदान्तपरिभाषा में परम्परा से अद्यतन स्थापित अभ्युपगमों का अद्वैत-तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा का सर्वोत्तम रूप विद्यमान है ।[12]

अतएव आचार्य शंकर के अद्वैत सिद्धान्तों को हृदयंगम करने में यह 'वेदान्तपरिभाषा' नामक प्रकरणग्रन्थ नितान्त उपकारक है । शांकर वेदान्त के अनुसार सत्-चित्-आनन्द ब्रह्म के सभी शब्द एकार्थक है । जैसे- लौहित्य, उष्णता और प्रकाश दीपक के स्वरूप हैं । इस सत् से ही संसार की उत्पत्ति हुई है, उसी पर यह संसार आश्रित है और प्रलय होने पर इसी में विलीन हो जाता है ।[13] संसार का नानात्व असत्य है और उसकी एकता ही एकमात्र सत्य है । अतः आत्मा या ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, यह अनन्त ज्ञान तथा अनन्त आनन्द है । उसके अन्दर कोई दूसरी सत्ता नहीं है । तथापि अविद्या के कारण उसमें अनेक की प्रतीति होती है । यदि अज्ञान न होता तो हमें ब्रह्म की अनेकरूपता का भ्रम न होता । माया, अविद्या, अज्ञान वास्तव में एक ही हैं, अविद्या का तिरोधान वेदान्त के ज्ञान से ही होता है । इस अज्ञान के कारण ही यह जीवात्मा अपने को ब्रह्म से पृथक् समझती है । मिथ्याज्ञान (अज्ञान) के दूर होने पर उसके दुःखों का भी अन्त हो जाता है । जिस तरह ब्रह्म आनन्दमय है, उसी तरह आत्मा भी आनन्दमय हो जाता है । (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति) । यथार्थतः अद्वैतवेदान्त का सारांश यही है । इसीलिए कहा जाता है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म परस्पर अभिन्न है ।[14]

कालान्तर में इन्हीं सिद्धान्तों की आधारशिला पर अद्वैतवेदान्त में विभिन्न मतान्तर प्रचलित हो गये हैं । जैसे सुरेश्वराचार्य का वार्त्तिक-प्रस्थान, प्रकाशात्मा का विवरण-प्रस्थान तथा 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' वाचस्पति मिश्र का भामती-प्रस्थान विशेष

उल्लेखनीय हैं । वैसे इन सभी का लक्ष्य अद्वैततत्त्व का निर्धारण करना ही है । तथापि उस अद्वैततत्त्व के निर्धारण में उपायभूत प्रसिद्ध व्यावहारिक प्रमेयों में कहीं-कहीं एकता परिलक्षित नहीं होती है । वेदान्तपरिभाषा नामक प्रकरण-ग्रन्थ में कहीं-कहीं विवरण और भामती प्रस्थानों को तरफ झुकाव दृष्टिगोचर होता है । जिसके सम्यक् बोध के लिए दोनों प्रस्थानों के प्रमेयों का एक संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक होगा ।

विवरणकार प्रकाशात्मा के मत से	'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' वाचस्पति मिश्र के मत से
(1) ब्रह्म विचार श्रवण विधि प्रयुक्त है।	ब्रह्म-विचार अध्ययन-विधि प्रयुक्त है ।
(2) कर्म, विद्यार्थ है ।	कर्म, विविदिषार्थ है ।
(3) मन, इन्द्रिय नहीं है ।	मन, इन्द्रिय है ।
(4) श्रवण-मनन-निदिध्यासन में श्रवण अंगी तथा मनन और निदिध्यासन अंग हैं ।	निदिध्यासन अंगी तथा श्रवण और मनन अंग हैं ।
(5) जीव, प्रतिबिम्ब है ।	जीव, अन्तःकरणावच्छिन्न है ।
(6) शुद्ध चैतन्य ही अविद्याश्रय है ।	जीव में अज्ञानाश्रयता है ।
(7) अज्ञान, एक है ।	अज्ञान, अनेक हैं ।
(8) शुद्ध ब्रह्म, वृत्ति का विषय है ।	उपाहित ब्रह्म, वृत्ति का विषय है ।
(9) अध्ययन-विधि का प्रयोजन अक्षरग्रहण है ।	अध्ययन-विधि का प्रयोजन अर्थ-ज्ञान है ।
(10) मायिक पदार्थ पंचीकृत है ।	भूतों को त्रिवृत्कृत बताया है ।
(11) सादृश्य, अध्यास के कारण नहीं है ।	सादृश्य, अध्यास में कारण है ।
(12) शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है ।	शब्द से अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है ।
(13) स्वप्नप्रपंच अविद्या का परिणाम है।	स्वप्नप्रपंच, मन का परिणाम है ।

इसके अतिरिक्त और भी कितने संदर्भों में मत विभिन्नता है, किन्तु इस विचार वैमत्य के अभाव में अद्वैत-सिद्धान्त की कोई हानि नहीं है । सभी प्रस्थानों का उद्देश्य

तो एक ही है । साधन मात्र पृथक्-पृथक् हैं । इसी अभिप्राय से वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि जिस माध्यम से भी व्यक्ति प्रत्यगात्मा का ज्ञान प्राप्त करें वह वेदान्त को मान्य है ।[15]

यह 'वेदान्तपरिभाषा' नामक प्रकरण ग्रन्थ प्रकाशात्मा के विवरण प्रस्थान को आधार मानकर प्रणीत किया गया है । कतिपय स्थलों पर भामतीकार के मत का भी उल्लेख किया गया है, किन्तु उधर ग्रन्थकार का आकर्षण कम है । क्योंकि 'मन की अनिन्द्रियता' 'ज्ञान का प्रत्यक्षत्व', 'शाब्दापरोक्षत्व', 'जीवप्रतिबिम्बत्व', 'श्रवणविधेयत्व' आदि का विशेष रूप से समर्थन करना ही विवरणानुयायित्व को स्पष्ट कर रहा है । परन्तु कहीं-कहीं विवरण मत से वैषम्य भी दृष्टिगोचर होता है । जिसका सम्यक् विवेचन अपेक्षित है--

	विवरणकारप्रकाशात्मा के मत से	परिभाषाकार अध्वरीन्द्र के मत से
1.	नवीन विषयों का ज्ञान ही प्रमा है।	नवीन तथा बाधरहित विषय का ज्ञान प्रमा है ।
2.	स्मृति, प्रमारूप नहीं है ।	स्मृति, प्रमारूप है ।
3.	अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्य ही 'जीव' है।	अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य ही 'जीव' है
4.	अन्तःकरण दो प्रकार का है ।	अन्तःकरण चार प्रकार का है ।
5.	सादृश्य, अध्यास के होने में कारण नहीं है ।	सादृश्य, अध्यास के कारण है ।
6.	प्रातिभासिक अध्यासों की अवस्था, अज्ञान का कार्य है ।	प्रातिभासिक अध्यास, तूलाज्ञान का कार्य है ।
7.	स्फटिकगतलौहित्य, अनिर्वचनीय है ।	स्फटिकगत लौहित्य सत्य है ।
8.	व्याप्तिज्ञान, अनुमिति के प्रतिकारण नहीं है ।	व्याप्तिज्ञान, अनुमिति के प्रति कारण है
9.	शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान हेतु नहीं है ।	तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध में हेतु है ।
10.	अभावज्ञान की अप्रत्यक्षता है।	अभावज्ञान की प्रत्यक्षता है ।[16]

परिभाषाकार के वर्णित तत्व तथा कृतित्व के विवेचन से स्पष्ट होता है कि धर्मराज अध्वरीन्द्र शांकर वेदान्त तथा प्रस्थान के अधिकांश पक्षों का अनुगमन किया है[17]; क्योंकि दर्शन की मौलिकता के लिए कोई एकमेव माध्यम नहीं है, परन्तु कतिपय पक्षों में अपनी मौलिक दृष्टि भी रखते हैं । जो इनके दार्शनिक दृष्टिकोण के साथ-साथ दर्शनशास्त्र के प्रतिमान का भी द्योतक है ।

(1.1.1) वेदान्तपरिभाषा पर प्रमुख टीका:-

धर्मराज अध्वरीन्द्र प्रणीत 'वेदान्तपरिभाषा' ने अनेक सूक्ष्मबुद्धि एवं मेधावी टीकाकारों को आकृष्ट किया । जो ग्रन्थ की महत्ता का द्योतक है । वेदान्तपरिभाषा पर अनेक टीकाएं उपलब्ध हैं । सबसे प्रसिद्ध टीका लेखक के सुपुत्र रामकृष्ण अध्वरीन्द्र की है ।

1- रामकृष्ण ने न्याय-न्याय शैली में वेदान्तपरिभाषा पर 'शिखामणि' नामक टीका का प्रणयन किया है । अमरदास स्वामीन् ने 'शिखामणि' पर मणिप्रभा नामक उपटीका की रचना की है । वेदान्तपरिभाषा को समझने में इन दोनों टीकाओं से अधिक सहायता मिलती है । दोनों टीकाएं वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस से दो बार प्रकाशित हो चुकी है।

2- पेद्दा दीक्षित त्रिवेदी नारायण के पुत्र एवं धर्मराज अध्वरीन्द्र के भ्रातृव्य हैं । उन्होंने वेदान्तपरिभाषा पर 'प्रकाशिका' नामक टीका लिखा है । पेद्दा दीक्षित धर्मराज के शिष्य भी थे । 'प्रकाशिका' में इन्होंने अपने विद्यागुरू की वन्दना की है ।[18] इसका प्रकाशन 1928 ई0 में गवर्नमेंट प्रेस त्रावनकोर से हुआ है ।

3- नारायण भट्ट शास्त्री ने वेदान्तपरिभाषा पर 'भूषण' नामक टीका लिखा है । यह अभी अप्रकाशित है ।

4- महामहोपाध्याय शिवदत्त की वेदान्तपरिभाषा पर 'अर्थदीपिका' अत्यन्त प्रसिद्ध है । अन्य टीकाओं की अपेक्षा इसकी यह विशेषता है कि इसमें परिभाषा

के सिद्धान्तों का पूर्णतया समर्थन किया गया है, यहाँ तक कि धर्मराज के पुत्र प्रणीत 'शिखामणि' टीका का भी स्थल-स्थल पर खण्डन कर 'वेदान्तपरिभाषा' का वास्तविक अभिप्राय व्यक्त किया है । इसका हरिदास संस्कृत सीरीज (बनारस) से तीन बार प्रकाशन हो चुका है ।

5- पं0 कृष्णनाथ पंचानन ने अत्यन्त स्पष्टता के साथ 'आशुबोधिनी' नामक टीका की रचना की है। इसका दो संस्करण पं0 आनन्द झा ने अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ से निकाला है ।

6- श्रद्धेय 'शारदापीठ' के शंकराचार्य ने वेदान्तपरिभाषा पर 'पदार्थ-मंजूषा' नामक टीका का प्रणयन किया है ।[19]

7- 'वेदान्तपरिभाषा' पर अत्यन्त विख्यात टीका म0म0एम0एम0 अनन्तकृष्ण शास्त्री प्रणीत 'परिभाषाप्रकाशिका' है । संस्कृत भाषा में रचित यह वेदान्त तथा मूल ग्रन्थ को समझने में अत्यन्त सहायक है । इसका दो संस्करण कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो चुका है ।

8- कोचीन के पूर्व महाराज श्री राम वर्मा ने 'परिभाषा' के विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श करके 'परिभाषा-संग्रह' का संकलन किया है । इसका प्रकाशन कोचीन संस्कृत सीरीज से हुआ है ।

9- वेदान्तपरिभाषा का अंग्रेजी अनुवाद का प्रकाशन थियोसोफिकल लाइब्रेरी, अड्यार से हुआ है । इसके प्रकाशक एस0एस0 सूर्य नारायण शास्त्री हैं ।

10- वेदान्तपरिभाषा पर संस्कृत में एक महत्त्वपूर्ण टीका न्यायाचार्य पं0 आनन्द झा प्रणीत 'प्रभावली' है । इसका प्रकाशन अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ से 1963 में हुआ है ।

11- पं0 विद्यानन्द जिज्ञासु एवं डा0 गजानन शास्त्री मुसलगांवकर की हिन्दी व्याख्या 'वेदान्तपरिभाषा' को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

12- 'वेदान्तपरिभाषा एक विश्लेषणात्मक अध्ययन' आंग्ल भाषा में प्रो० जी०पी० दास ने प्रणीत किया है । यह टीका वेदान्तपरिभाषा के दार्शनिक-तार्किकता को प्रकट करती है ।

(1) वेदान्तपरिभाषा की विशिष्टता:-

परिभाषाकार के व्यक्तित्व तथा कृतित्व के अतिरिक्त ग्रन्थ पर लिखी गयी टीकाओं एवं उपटीकाओं का विवेचन किया जा चुका है । अन्त में मूलग्रन्थ की विशिष्टता का वर्णन अप्रासंगिक न होगा ।

वेदान्तपरिभाषा वेदान्तशास्त्र का प्रकरण-ग्रन्थ है ।[20] इसकी अति सुन्दर दार्शनिक शैली है । नव्य-न्याय की प्रक्रिया से वेदान्तसम्मत प्रमाण-प्रमेयादि पदार्थों का निरूपण श्रुतियों एवं युक्तियों के द्वारा किया गया है । वेदान्त के अन्य प्रकरण ग्रन्थों में प्रायशः प्रमेय पदार्थों का ही प्रतिपादन किया गया है । पर इस ग्रन्थ में प्रमाणों का भी विस्तार से और प्रमेय का भी यथावत् विचार हुआ है । अतः 'परिभाषा' नाम इसका सार्थक है ।[21] जिसमें सभी दृष्टियों से वेदान्त का विचार किया गया हो, उसे वेदान्तपरिभाषा कहते है । 'वेदान्तार्थावलम्बिनी' कहकर ग्रन्थकार ने पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि यह 'परिभाषा' 'स्वकपोलकल्पित' न होकर अन्य वेदान्त ग्रन्थों का अभिप्राय ही इसका प्रतिपाद्य है । वैसे अन्य वेदान्त ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय जगत् मिथ्यात्व प्रतिपादन के साथ-साथ जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन है । इस ग्रन्थ से मन्द जिज्ञासुओं को भी 'ब्रह्मज्ञान' हो जायेगा । अतएव ब्रह्मज्ञान इसका प्रयोजन है और चरमलक्ष्य ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होता है ।[22] इस प्रकार "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः" अर्थात् "वही विद्वान है जो सभी जीवों को अपने समान समझता है" को चरितार्थ करते हुए परिभाषाकार अद्वैतवेदान्त के मूल अभिप्रायः 'परमतत्त्व' के बोध का आकर्षण उत्पन्न करने में सफल हैं ।

अद्वैत-दर्शन के प्रतिपाद्य विषय तथा वेदान्त-परिभाषा के अनुशीलन से जो तथ्य प्रकट होता है, वह यह है कि परम्परागत अद्वैत-वेदान्त का सर्वग्राह्य पहलू के बोध का माध्यम अत्यन्त गूढ़ था; क्योंकि परिभाषाकार के पूर्ववर्ती मूर्धन्य अद्वैत-वेदान्ती जीवन के परमलक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति केवल 'ज्ञानादेव' से ही घोषित किये थे। ज्ञानमार्ग सभी के लिए सुगम ही नहीं है, बल्कि साधारणजन के लिए दुर्लभ भी है। तत्त्वविद् कहते हैं कि जैसे छुरे की धार तीक्ष्ण होती है, उसी प्रकार आत्मसिद्धि का मार्ग दुर्गम है।[23.] इससे अद्वैतवेदान्त में एक कुलीनतन्त्र (धीवानों) का वर्चस्व था। अभी तक परमतत्त्व केवल सैद्धान्तिक चिंतन के लिए उपादेय था। एक किंवदन्ती में बताया जाता है कि अद्वैतवेदान्त के अप्रतिम आदि शंकराचार्य को अद्वैत-तत्त्व का बोध काशी नगरी से एक चाण्डाल ने कराया था।[24.] परम्परा से ज्ञात है कि गौतम बुद्ध के अतिरिक्त उस समय एक गणिका भी तत्त्व-ज्ञान प्रदान करती थी।

धर्मराज अध्वरीन्द्र 'मन्दानां बोधाय' के द्वारा 'परमतत्त्व' की प्राप्ति के हेतु सगुणोपासना को भी साधन बताकर आध्यात्मिक स्तर पर जनतन्त्र की स्थापना करना चाहते हैं।[25.] यह पक्ष परिभाषाकार के चिंतन का दूषण नहीं है, बल्कि सच्चिदानन्द स्वरूप शुद्ध ब्रह्म के सम्यक् दृष्टिकोण का चरमोत्कर्ष है। अतएव ग्रन्थकार ने आत्मा, ब्रह्म, अधिष्ठान, अध्यास, अविद्या, माया तथा मोक्ष इत्यादि सम्प्रत्ययों को परम्परागत अद्वैतवेदान्त से केवल अध्याहार ही नहीं कर लिया है, बल्कि इन सम्प्रत्ययों के दार्शनिक-तर्कशास्त्र सम्मत स्वरूप को समझाया है।

अद्वैत-वेदान्त के परम्परागत आचार्यों ने चैतन्य, अन्तःकरण, वृत्ति, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, जीवसाक्षी, व्याप्ति, संस्कार, अनुभूति प्रभृति सम्प्रत्ययों का मनोवैज्ञानिक रूप से निरूपण किया है। लेकिन परिभाषाकार ने इन सम्प्रत्ययों के शुद्ध तार्किक स्वरूप को बताकर, साथ ही दार्शनिक ज्ञान में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका का भी निरूपण किया है। उदाहरण के लिए चैतन्य -सम्प्रत्यय का विवेचन प्रासंगिक होगा।

वेदान्तशास्त्र में ज्ञान, चैतन्य, ब्रह्म, आत्मा, चिति, संविद्, भान इत्यादि सम्प्रत्यय पर्याय हैं । किन्तु ग्रन्थकार के अनुसार निरुपाधिक चैतन्य एक होता हुआ **भी** उपाधिभेद से प्रमातृ चैतन्य, प्रमाण-चैतन्य एवं विषय रूप से तीन प्रकार का हो जाता है । घटादि विषय है । इन घटादि विषयों से अवच्छिन्न (घिरा हुआ) चैतन्य को विषय-चैतन्य कहते हैं । अन्त:करण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाण-चैतन्य कहते हैं । एवं अन्त:करण से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमातृ-चैतन्य कहते है । अतएव चैतन्य एक होने पर भी वह उपाधि के भेद के कारण भिन्न होता है ।[26] तद्वत् विचार शंकराचार्य का भी है । उन्होंने उपाधियुक्त चैतन्य को वेद्य, वेदक तथा बोध में विभाजित किया है । सुरेश्वराचार्य ने उसे ग्राहक, ग्रहण तथा ग्राह्य में बाँटा है । किन्तु चैतन्य में स्वरूप से कोई भेद है नहीं । भेद केवल उपाधियों के कारण से माना गया है । लेकिन चैतन्य के अनादि होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति अन्त:करण की वृत्तियों से ही होती है । अन्त:करण में नित्य-चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है । अन्त:करण विषयी और विषय को जोड़ने वाली श्रृंखला है । इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर अन्त:करण उस 'अर्थ' का तडागोदक-न्याय से स्वरूप बन जाता है । इसे 'वृत्ति' कहते हैं । 'वृत्ति', ज्ञान को मर्यादित (भिन्न) करती है । वृत्ति ज्ञानरूप नहीं है । यह तो ज्ञान का अवच्छेदक है । अत: ज्ञान का अवच्छेदक होने से वृत्ति को 'गौणीवृत्ति' से ज्ञान कहा दिया जाता है । विवरणकार के अनुसार भी अन्त:करण की वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार होने से अन्त:करण-वृत्ति को ही ज्ञान कहते हैं ।

वस्तुत: परिभाषाकार का ध्येय परम्परागत आचार्यों की भाँति ज्ञानमीमांसीय सम्प्रत्ययों की आनुभविक व्याख्या करना नहीं हैं । बल्कि धर्मराज का आग्रह इसमें है कि ज्ञान की उत्पत्ति (गौण रूप से) एवं विकास, स्वरूप तथा क्रियान्वयन में वस्तुओं से संयुक्त होने की परीक्षा करना है । यह आग्रह विशुद्ध रूप से दार्शनिक परीक्षण है । इसी प्रकार ग्रन्थकार का ध्येय वेदान्त सम्मत प्रमाणों-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि-का वर्णन करना नहीं है, बल्कि इन प्रमाणों से कैसे यथार्थ ज्ञान की स्थापना हो सकती है, निरूपण करना है ।

अद्वैत-वेदान्त में निरन्तर मौलिकता का समावेश करने वाले विचारकों में वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराज अध्वरीन्द्र का नाम अग्रगण्य है । इनकी मौलिक दृष्टि अत्यन्त असाधारण है । इन्होंने साक्षी, अनिर्वचनीयख्याति, मिथ्यात्व आदि विषयों का मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है । ब्रह्म का साक्षात्कार अपरोक्ष[27.] ज्ञान से ही संभव है, जिसमें समस्त दु:खों से छुटकारा पाया जा सकता है । यह अपरोक्ष ज्ञान वाक्य-जन्य होता है । इसके अतिरिक्त धर्मराज ने 'मन' का 'अनिन्द्रियत्व', वह्निमान् पर्वत: में पर्वतांश की प्रत्यक्षत्व व्यवस्था, ज्ञानगत प्रत्यक्ष तथा विषयगत प्रत्यक्ष के भिन्न-भिन्न प्रयोजक, शब्द से भी प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति स्वत: प्रामाण्यवाद, महावाक्य में लक्षणा का खण्डन, स्मृति को भी प्रमा रूप में मानना, सुरभिचन्दनज्ञान का अपरोक्ष तथा सुरभि का परोक्ष ज्ञान आदि को मानकर अपने सूक्ष्म दृष्टिकोण का परिचय दिया है ।

नव्य-न्यायघटित भाषा में लिखी गयी वेदान्त परिभाषा नि:सन्देह अद्वैतवेदान्त की अनुपम रचना है । प्रथम सम्पूर्ण विकल्पों को प्रस्तुत करके उनका खण्डन किया जाता है । विकल्पों के लिए कोई आवश्यक नहीं है कि वे किसी सम्प्रदाय विशेष द्वारा मान्य हों । विभिन्न विकल्पों की स्थापना केवल तार्किक वर्गीकरण के आधार पर प्रस्तुत की गयी है । जो अद्वैत-वेदान्त के मूल अभिप्राय को बोधगम्य कराने में अत्यन्त सहायक हैं ।

उपर्युक्त मौलिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए, हम अगले अध्यायों में देख सकेंगे, कि किस तरह परिभाषाकार दार्शनिक चिंतन को पूर्ववर्ती अद्वैत के आचार्यों से आगे ले गये हैं । वास्तव में धर्मराज का परम्परागत आचार्यों के प्रति गुरुश्रद्धा अपने समकालीन आचार्यों से भिन्न थी । यह उस तरह का गुरुस्नेह है जिस तरह अरस्तू ने प्लेटो के विचारों की आलोचना करके प्लेटो के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की । "मेरे मन में प्लेटो के लिए श्रद्धा है, परन्तु सत्य के लिए उससे भी अधिक श्रद्धा है।"[28.]

टिप्पणी :-

§1§ 'यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया गृहीतव्यानि नो इतराणि' ।

-- तैत्तिरीय उपनिषद् शिक्षावल्ली

§2§ ततश्च वयमत्रेदं विश्वसिम: - यत् श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रा: श्रीमदप्पयदीक्षितरामकालिका:, अथवा यतीन्द्रमतदीपिका लेखनसमये वृद्धा आसन्निति, सप्तदशशतकस्योपक्रमसमय एवैतेषामपि समय इति । अनन्तकृष्णशास्त्री, वेदान्तपरिभाषा टीका की भूमिका, §कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वितीय संस्करण, 1930§

§3§ इति श्रीमत्कण्डरमाणिक्यग्रामवासिना त्रिवेदिनारायणयज्वानुजेन धर्मराज अध्वरीन्द्रेण कौण्डिन्येन विपश्चिता विरचिते तर्कचूणामणौ शब्दखण्ड: समाप्त: ।

--'तर्कचूणामणि', तंजौर लाइब्रेरी के हस्तलेख ।

§4§ डा० श्रीगजानन शास्त्री मुसलगाँवकर कृत वेदान्तपरिभाषा की टीका के मंगलाचरण का तृतीय श्लोक तथा पं० अनन्तकृष्णशास्त्री कृत वेदान्त परिभाषा की टीका, पृ०- 125

§5§ वही, द्वितीय श्लोक ।

§6§ वही, पंचम श्लोक ।

§7§ वही, चतुर्थ श्लोक ।

§8§ टीका 'शशधरस्यापि बालव्युत्पत्तिदायिनी' महामहोपाध्याय शशधर कृत 'न्यायसिद्धान्तदीप' पर धर्मराज की टीका 'न्यायसिद्धान्तदीप प्रकाशिका' की भूमिका, पृ०- 5

§9§ "No philosopher understands his predecessors until he has re-thought their thought in his own contemporary terms."

- Peter F. Strawson, Individuals (1964)

P. 10.

§10§ अवच्छेदक शब्द का एक विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग नव्यनैयायिकों ने किया है । उदाहरणतया वह्निके संदर्भ में 'वह्नित्व' अवच्छेदक है । वह्नित्व एक धर्म है जो वह्नि का बोध कराने की शक्ति रखने के साथ-साथ उसको अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है--

शक्यत्वे सति शक्यव्यावर्त्तकत्वम् । 'अवच्छेदत्वम्'

दूसरे शब्दों में केवल वाक्य का रूप देखने से अर्थ स्पष्ट नहीं होता ।इसलिए अवच्छेदक लगाना पड़ता है? क्योंकि एक ही पद भिन्न-भिन्न सम्बन्धों से भिन्न-भिन्न धर्म ग्रहण करता है । जैसे एक ही नारी पृथक्-पृथक् सम्बन्धों से माता,स्त्री या पुत्री बन जाती है ।

--श्री हरिमोहन झा-दार्शनिक विवेचनाएँ§बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1973§ ।

§11§ एम0 हरियन्ना, भा0 द0 रू0,पृ0-340, तृतीय संस्करण, 1980

§12§ डा0 राधाकृष्णन-भारतीय दर्शन,भाग-2 §ब्लेकी एण्ड सन प्रा0 लिमि0, 1977§, पृ0- 45।

§13§ 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' - तैत्तिरीय उपनिषद् , 3-।

§14§ ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर: ।

§15§ वही, आनोभद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वत: ।

§16§ वेदान्तपरिभाषा पर डा0 श्रीगजानन शास्त्री मुसलगाँवकर की टीका की भूमिका पृ0- 38-39

§17§ " Philosophy originality does not mean beingsinguler."

- Gaurinath Sastri- The philosophy of world and Meaning (Calcutta,SanskritCollege, 1959)

Page. 44.

§18§ यत्प्रसादप्लवेनैव शास्त्राब्धिमतरं सुखम् ।
तं धर्मराजाध्वरीणं बन्दे सर्वार्थसिद्धये ।।

—'प्रकाशिका' की भूमिका, त्रावणकोर गवर्नमेंट§1928§ से प्रकाशित ।

§19§ शान्त्यानन्दसरस्वती भूतपूर्वशारदापीठाधीशः पदार्थमञ्जूषया चायूजुत् ।

§20§ शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तिरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ।।
देखिए: वेदान्तपरिभाषा पर मुसलगाँवकर की टीका प्रत्यक्षपरिच्छेद§1983§

§21§ वेदान्तपरिभाषा पर मुसलगाँवकर की टीका मंगलाचरण, पाँचवा श्लोक ।

§22§ वेदान्तपरिभाषा पर विद्यानन्द जिज्ञासु की टीका§1967§,पृ0-13

§23§ 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ।
— कठोपनिषद् §3, 14§

§24§ प्रो0 विद्यानिवास मिश्र का लेख, नभाटा §नयी दिल्ली, 18 सितम्बर, 1994§ ।

§25§ 'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'
—गीता

तुलनार्थ- "ब्रह्मविद् चाहे वह जितना अधम हो, ब्रह्म को न जानने वाले
अधिक धनी और श्रेष्ठ व्यक्ति से उच्चतर है ।"
—छान्दोग्य उपनिषद्, -4, 1-2

§26§ विद्यानन्द- वेदान्तपरिभाषा की टीका प्रत्यक्ष परिच्छेद,तथा नैष्कर्म्यसिद्धिः,
पृ0-46, पृ0-108

§27§ परोक्षज्ञान वस्तु के अस्तित्व के अज्ञान §असत्त्वापादकाज्ञान§ मात्र को दूर
करता है । अपरोक्ष ज्ञान उसके ठीक स्वरूप के अज्ञान §अभानापादकाज्ञान§
को भी दूर करता है । देखिए:प्रो0 हिरियन्ना-भारतीय दर्शन की रूपरेखा,पृ0343

§28§ तुलनार्थः सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते,मूढ़ परप्रत्ययनेय बुद्धिः ।।
महाकवि कालिदास—मालविकाग्निमित्र, 1/2
देखिए: डा0 दीवानचन्द-पश्चिमीदर्शन§उ0प्र0हिन्दी संस्थान,लखनऊ, 1978§,
पृ0- 43

तृतीय अध्याय

वेदान्तपरिभाषा के प्रमाणमीमांसा पर न्याय प्रभाव

(i) प्रमाण का सामान्य रूप

(ii) प्रत्यक्ष

(iii) अनुमान

(iv) शब्द

(v) उपमान

(vi) अर्थापत्ति

(vii) अनुपलब्धि

(viii) प्रमाण-मीमांसा का महत्त्व

वेदान्तपरिभाषा के प्रमाणमीमांसा पर न्याय प्रभाव

(1) प्रमाण का सामान्य रूप:-

'प्रमीयतेऽनेन' अर्थ में प्र + मा धातु [10] से ल्युट् प्रत्यय लगकर प्रमाण शब्द निष्पन्न है । प्रमाण शब्द के दो अर्थ हैं- प्रमा और प्रमा का करण । ल्युट् जब भाव में होता है तो इसका अर्थ है- प्रमा, क्योंकि भाव प्रत्यय का प्रकृत्यर्थ से भिन्न या अधिक कोई अर्थ नहीं हुआ करता । किन्तु 'ल्युट्' जब करण अर्थ में किया जाता है तब इसका अर्थ होता है प्रमा का करण । इस प्रकार यद्यपि प्रमाण शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थ हैं, किन्तु इस शब्द का अधिक प्रयोग प्रमा के करण रूप में ही होता है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमा को यथार्थ ज्ञान और जिसके द्वारा पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं । प्रमा का विस्तृत तथा स्पष्ट विचार आगे किया जायेगा।

स्पष्ट है कि वस्तु के यथार्थ ज्ञान का नाम तथा उसकी उत्पत्ति में जो विशिष्ट कारण होता है उसे प्रमाण कहते हैं । किन्तु उक्त प्रमा का असाधारण कारण रूप कारण क्या है? किसी कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण स्वीकार किये गये हैं— साधारण, असाधारण आदि । साधारण कारण को करण की कोटि में नहीं माना गया है । यथा घट एक कार्य है । घट के देश, काल, ईश्वर, ईश्वरेच्छा, जीव के अदृष्टादि साधारण कारण हैं । अतः इन्हें घट का कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये तो घट के प्रति भी कारण हैं और पट के प्रति भी । अतः साधारण कारण देश-कालादि को करण नहीं कह सकते । इसके अतिरिक्त जो सभी कार्यों का कारण न होकर किसी विशेष कार्य का कारण होता है, उसे असाधारण कारण कहते हैं । उदाहरणार्थ, घट कार्य, के प्रति जो चक्र, चीवर, दण्ड, कपाल, कुलाल आदि कारण हैं, उन्हें असाधारण कारण कहते हैं । अतएव प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'करण' की इस प्रकार परिभाषा दी है- साधकतमं करणम् । अर्थात्, किसी कार्य के सम्पादन में जो चरमसाधन (साधकतम) हो उसे ही करण कहते हैं । अब

प्रश्न है कि साधकतमं से हमारा क्या तात्पर्य है? साधकतम् का अर्थ है, सबसे निकटवर्ती (अव्यवहित) साधन । अर्थात् वह साधन जिसका व्यापार होते ही क्रिया की फल-निष्पत्ति हो जाय, बीच में कोई व्यवधान न हो ।[2] उदाहरणार्थ- राम ने बाण से बाली को मारा, रामेण बाणेन हतो बाली । बाली के प्राण जाने में बहुत से कारण हैं, जैसे बाली सुग्रीव का पारस्परिक द्वेष, राम का क्रोध, धनुष, बाण, प्रत्यञ्चा आदि । परन्तु बाली की तत्काल मृत्यु बाण लगने से ही हुई । अतः बाण को ही कारण माना गया है; क्योंकि बाण में ही अतिशयता है । इस अतिशय अर्थ को व्यापार कहा गया है । अतः व्यापार वाले असाधारण कारण को करण कहते हैं ।[3] यही करण अतिशय कारण, प्रकृष्ट कारण या प्रमाण कहलाता है । यही प्रमाण प्रमा का अत्यन्त साधक होता है ।

उपर्युक्त विचार नैयायिकों के अत्यन्त निकट है । क्योंकि नैयायिक विचारक प्रमाण की कारणमूलक परिभाषा देते हैं । 'कारण' भी कारक ही है । क्रिया को उत्पन्न करने वाले पदार्थ को कारक कहते हैं । नैयायिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं । अद्वैती आत्मा को निर्गुण मानते हैं । 'ज्ञप्तिरूप अविशिष्ट ज्ञान', आत्मा का स्वरूप है । अजन्य वस्तु को करण की अपेक्षा हुआ करती है । अतएव यहाँ शंका हो सकती है कि ज्ञानरूप आत्मा को करण की क्या आवश्यकता है ? इसके निवारणार्थ साक्ष्य यह है कि यद्यपि अद्वैत-दर्शन में तात्त्विक दृष्टि से ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, पर व्यावहारिक दृष्टि से हम ज्ञान को एक प्रक्रिया के रूप में अभिव्यक्त करते हैं । विशुद्धात्मा तो ज्ञान से अभिन्न है, पर जीवात्मा को बाह्य संसार को जानने के लिए प्रक्रिया करने की आवश्यकता होती है । जीव एक इकाई न होकर दो घटकों का समुच्चय है- प्रथम अन्तःकरण और द्वितीय साक्षी । अतः अद्वैतवेदान्त में ज्ञान से आशय न केवल अन्तःकरण की वृत्ति से है और न केवल साक्षी से ही, वरन् साक्षी से प्रेरित वृत्ति से है । वृत्ति ज्ञान रूप नहीं है । परन्तु गौण रूप से वृत्ति को ज्ञान कह दिया जाता है । विवरणकार के अनुसार भी अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञानत्व औपचारिक है । अतएव ज्ञानरूप अजन्य चैतन्य में कोई अतिशय उत्पन्न न

किये जाने पर भी अन्तःकरण-वृत्ति-विशिष्ट चैतन्य में अतिशयाधान की आवश्यकता पड़ती है । अतः चैतन्य की इस दशा का जो भी असाधारण कारण हो, वही करण कहलाने योग्य है ।[4]

भारतीय परम्परा में ज्ञान के स्वरूप के साथ ही प्रमाण का स्वरूप समझ लेने का संकेत जैनाचार्य उमास्वाति ने किया था जो आगे चलकर अन्य दार्शनिक परम्पराओं की भाँति प्रमाण के सम्बन्ध में यथोचित विवेचन, विश्लेषण का कारण बना ।

प्रमाण की परिभाषा विभिन्न दर्शनों में अनेक रूप से की गयी है, किन्तु इस अंश में सभी एक मत हैं कि प्रमाण प्रमा की उत्पत्ति का निमित्त कारण है । (प्रमायाः करणं प्रमाणम् ।) यह होते हुए भी न केवल भिन्न दर्शनों में अपितु एक ही दर्शन के विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गयी परिभाषाओं में भी पर्याप्त अन्तर है । इस अन्तर के दो कारण हैं, पहला तो यह है कि दर्शन के क्षेत्र में सामान्यतया तभी कोई कदम उठाने की सोच सकता है, जबकि जिस बात को वह स्वयं अनुभव करता है, उसका पहले किसी ने उल्लेख न किया हो और दूसरा यह कि सम्बद्ध शास्त्र या ग्रन्थ के दुरूह होने के कारण उसके सामयिक सरलीकरण की आवश्यकता हो या उसके सम्बन्ध में जो आलोचना की गयी हो उसका खण्डन या मण्डन करना अपेक्षित हो । प्रमाण का भारतीय दार्शनिकों ने जो विश्लेषण किया, प्रतीत होता है कि उसमें इन दोनों ही तत्त्वों का प्रमुख हाथ रहा हो । अतएव प्रमाणों की परिभाषा और संख्या, विभिन्न प्रमाणों के विषय इत्यादि पर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में गम्भीर मतभेद है । ये मतभेद भारत के प्रमाण-मीमांसीय चिंतन की सप्रमाणता के द्योतक हैं । इस अध्याय का उद्देश्य केवल परिभाषाकार सम्मत प्रमाणों का विवेचन तथा उस पर न्याय-दर्शन सम्मत दृष्टिकोण के प्रभाव का अवलोकन करना है

यद्यपि वेदान्त-सूत्र और उसके भाष्य में कहीं प्रमाणों का विवेचन नहीं है । लेकिन कोलब्रुक वेदान्तपरिभाषा के आधार पर कहता है कि पूर्वमीमांसा की भाँति

वेदान्त भी षड्-प्रमाणों का समर्थन करता है ।[5]

वास्तव में वेदान्त प्रमाण को दो वर्गों में विभाजित करता है-- अशेष और सशेष प्रमाण ।

अशेष प्रमाण तत्त्वमसि, सोऽहमस्मि इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान है । इसे हम प्रातिभज्ञान (इन्टयूटिव नालेज) कह सकते हैं । यह ब्रह्मानुभूति है । इसे अपरोक्षानुभूति या आत्मबोध भी कहा जाता है । यह समस्त अविद्या का उच्छेद कर देता है । इसलिए इसे अशेष प्रमाण कहा जाता है । वेदान्त में यही सर्वोच्च प्रमाण है । अन्य दर्शन इसका अधिक विवेचन नहीं करते हैं और वे केवल परोक्ष-ज्ञान का ही वर्णन करते हैं ।[6]

सशेष प्रमाण छः हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि । इनमें से शब्द को वैदिक प्रमाण या श्रुति-प्रमाण तथा अन्य को लौकिक प्रमाण कहा जाता है । इन प्रमाणों से व्यावहारिक विषयों या विकारों का ज्ञान होता है। आत्मज्ञान में भी ये उपयोगी हैं । जब तक आत्मज्ञान नहीं होता तब तक ये प्रमाण प्रामाणिक या सत्य हैं । किन्तु आत्मज्ञान होने पर ये सशेष प्रमाण भी अप्रमाणित हो जाते हैं । शारीरिकभाष्य में शंकराचार्य ने बताया है कि श्रुति एवं अनुभवादि दोनों यथासंभव ब्रह्मविद्या में प्रमाण हैं ।[7] लेकिन जब शंकर कहते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान श्रुति-प्रमाण से ही हो सकता है और यह प्रमाणान्तर से ज्ञात नहीं होता है ।[8] तथापि माण्डूक्यकारिका भाष्य में लिखते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान तर्क से भी हो सकता है-- शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम् ।[9] तो एक असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । लेकिन इस पहेली का समाधान श्रुत्यनुगृहीत तर्क या निरवद्य तर्क से हो सकता है । शंकराचार्य अपने भाष्यों में इसी तर्क का सहारा लेते हैं और वे शुष्क तर्क का निराकरण करते हैं । ब्रह्म के अस्तित्व में जो भी प्रमाण बाधक हैं उनका खण्डन करके वे उन प्रमाणों को श्रुति का अनुग्राहक बना देते हैं । वेदान्तपरिभाषा में इसी तर्क के अनुसार

सभी प्रमाणों की व्याख्या की गयी है । वेदान्तदर्शन में प्रमाण का जो स्वरूप बनाया गया है उसके साथ ही अन्य दर्शनों में वर्णित प्रमाण के स्वरूप का विवेचन करना भी, अप्रासंगिक न होगा । न्यायशास्त्र में प्रमाण का महत्त्व सर्वोपरि है, लेकिन न्याय सूत्र में प्रमाण की परिभाषा नहीं दी गयी है । न्याय की दृष्टि से प्रमाण की सर्वांगपूर्ण परिभाषा जयन्त भट्ट ने प्रस्तुत की है । जयन्त के अनुसार वह सामग्री साकल्य प्रमाण है, जो अव्यभिचार तथा असंदिग्ध ज्ञान की जनक हो और जिसमें ज्ञान के बोध और अबोध स्वरूप समग्र कारणों का समावेश हो गया है ।[10.]

नव्य- नैयायिकों ने "व्यापारवद्करण" को करण कहा है, जिससे कि प्रत्यक्ष के संदर्भ में चक्षु को अनुमान के संदर्भ में व्याप्ति ज्ञान को उपमान के संदर्भ में अतिदेश वाक्य स्मरण को और शब्द प्रमाण के संदर्भ में पद- ज्ञान को करण माना गया है। विश्वनाथ ने भी असाधारण कारण को करण कहा है और यह स्पष्ट कर दिया कि असाधारण का अर्थ है— व्यापारवत्त्व ।जयन्त के सामग्रीकरणतावाद पर नव्य-नैयायिकों ने यह आक्षेप लगाया है कि सामग्री में व्यापार नहीं हो सकता । बौद्ध अविसंवादि विज्ञान को प्रमाण मानते हैं । प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार अज्ञात अर्थ का ग्राहक ज्ञान प्रमाण है ।

प्रमाण के स्वरूप की भाँति प्रमाण-संख्या के सम्बन्ध में भी भारतीय दर्शनों में विषमता व्याप्त है । चार्वाक मतावलम्बियों ने प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण माना । सांख्य-योग, माध्ववेदान्त, रामानुजवेदान्त तथा नैयायिक भासर्वज्ञ ने प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द को प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार किया । बौद्ध और वैशेषिक दर्शन केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं । न्याय-दर्शन में चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है- प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, और उपमान ।[11.] प्राभाकर मीमांसकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति इन पाँच प्रमाणों को स्वीकार किया । भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि नामक छः प्रमाणों को स्वीकार करते हैं ।

पौराणिक सम्भव तथा ऐतिह्य नामक दो प्रमाणों को और मानकर प्रमाणों की समग्र संख्या आठ तक बढ़ा देते हैं । अद्वैत वेदान्त में प्रमाण-मीमांसा को तत्त्व मीमांसा से पृथक् विवेचन करने वाले प्रमुख आचार्य धर्मराज अध्वरीन्द्र हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ "वेदान्तपरिभाषा" में कुमारिल द्वारा स्वीकृत षड् प्रमाणों का स्वतन्त्र विवेचन किया है ।[12.] इस अध्याय में हम परिभाषाकार धर्मराज अध्वरीन्द्र द्वारा स्वीकृत षड्-प्रमाणों तथा उस पर नैयायिक विचारकों के प्रभाव का विवेचन करेंगे ।

(i) प्रत्यक्ष प्रमाणः-

प्रमाण-सामान्य का स्वरूप देखा गया तथा प्रमाण विशेष रूपों में छः प्रकार के (वेदान्तपरिभाषा में) माने गये हैं । उनमें प्रथम है प्रत्यक्ष प्रमाण । अद्वैत वेदान्त एक वस्तुवादी मीमांसा है जिसके अनुसार प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई स्वतन्त्र विषय अवश्य होता है । आचार्य शंकर ने शारीरिकभाष्य में कहा है कि ज्ञान वस्तुतन्त्र ही है ।[13.] प्रायः इसीलिए कहा जाता है कि ज्ञान किसी भी प्रकार उत्पन्न हुआ हो, उसको विशेष रूप देने वाला विषय ही होता है । नैयायिक आचार्य भी मानते हैं कि प्रत्येक ज्ञान आत्मा के बाहर किसी बाह्य वस्तु की ओर अवश्य संकेत करता है । इसे वस्तुनिष्ठवाद कहा जाता है । अतएव प्रत्यक्ष की परिभाषा में कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान और उसका विषय समान देश काल में हो तो उसे प्रत्यक्ष[14.] कहते हैं । प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग संज्ञा तथा विशेषण दोनों के लिए होता है । जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण में 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रमाण का विशेषण है, किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) में वही शब्द संज्ञा का वाचक है । यह यथार्थ ज्ञान का एक साधन (प्रमाण) भी कहा जाता है और साध्य (प्रमा) भी । 'घट' से चक्षुरिन्द्रिय का संन्निकर्ष होने पर 'यह घट है' इस आकार (स्वरूप) का प्रमात्मक ज्ञान होता है । इस ज्ञान (प्रमा) को प्रत्यक्ष कहते हैं । और इस ज्ञान (प्रमा) का करण चक्षुरिन्द्रिय है, उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं । ऐसी बात अन्य प्रमाणों के सम्बन्ध में नहीं पायी जाती । अन्य प्रमाणों में साध्य और साधन के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग होता है । जैसे, अनुमान एक प्रमाण है और इससे उत्पन्न ज्ञान

को अनुमिति कहते हैं । इसी प्रकार उपमान और शब्द प्रमाण द्वारा उत्पन्न प्रमा को क्रमशः उपमिति और शाब्द कहते हैं ।

धर्मराज अध्वरीन्द्र ने प्रत्यक्ष प्रमा को चैतन्य स्वरूप माना है ।[15] धर्मराज ने प्रमातृ-चैतन्य, प्रमाण-चैतन्य और विषय-चैतन्य भेद से चैतन्य तीन प्रकार का माना है । वेदान्त में चैतन्य ज्ञानरूप है । अतः ज्ञान होना (ज्ञानत्व या चित्-त्वं) ही ज्ञान के प्रत्यक्ष कहलाने का निमित्त है । अतः परिभाषाकार ने प्रत्यक्ष का लक्षण "ज्ञानाकरण ज्ञान" किया है अर्थात् ज्ञान जिसका करण नहीं है ऐसा ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमा है । इस लक्षण के अनुसार 'स्मृति' भी प्रमा की कोटि में आती है, जो धर्मराज को अभीष्ट है ।[16] परिभाषाकार 'प्रत्यभिज्ञा' को भी प्रत्यक्ष प्रमा मानते हैं । इसका करण स्मृति ज्ञान बताया है । अनादि चैतन्य में करण बनकर चक्षुरादि इन्द्रियों के सन्निकर्ष से वृत्तिविशिष्ट चैतन्य चिदाभास होता है । उस वृत्ति को ही गौण वृत्ति से ज्ञान कहते हैं । विवरणकार ने अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार होना कहा है ।[17] अनादि चैतन्य की अभिव्यक्ति अन्तःकरण की वृत्तियों से ही होती है और अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रियों एवं अर्थों के सम्बन्ध होने पर उत्पन्न होती है । चैतन्य के अभिव्यञ्जक वृत्ति के उत्पन्न होने से उस वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य को भी उत्पन्न होने वाला कहा जाता है ।

"ज्ञानाजन्यं ज्ञानं" अर्थात् परिशेषन्याय द्वारा ज्ञान से उत्पन्न न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष धर्मराज अध्वरीन्द्र ने स्वीकार किया है ।

प्राचीन न्यायसूत्र में इन्द्रिय और वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है ।[18] गौतम मानते हैं कि चक्षुरिन्द्रिय बाह्य पदार्थ के पास जाकर उसका सन्निकर्ष करती है और तब उस सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । न्याय के इस सिद्धान्त को 'प्राप्यकारितावाद' कहते हैं । न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष ज्ञान छः प्रकार का बताया गया है । न्याय 'मन' को अन्तरिन्द्रिय मानता है । धर्मराज अध्वरीन्द्र 'मन' को इन्द्रिय नहीं मानते हैं । अतः चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियाँ पाँच ही हैं, और उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी पाँच ही प्रकार का है ।[19]

यद्यपि अधिकांश नैयायिक इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं । किन्तु इसमें एक आशंका यह उपस्थित होती है कि ईश्वर की कोई इन्द्रिय नहीं है हम भी अपनी इन्द्रियों से ईश्वर को नहीं देख सकते हैं । प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति का कारण कोई अन्य ज्ञान भी नहीं है । इसके निदान हेतु नैयायिक विश्वनाथ ने यह कहा कि जिस ज्ञान का कोई अन्य करण नहीं है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है ।[20. (i)]

नव्य- न्याय के प्रतिपादक गंगेश ने साक्षात्कारित्व के अतिरिक्त प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा देते हुए यह भी कहा है कि प्रत्यक्ष का कारण कोई ज्ञानान्तर नहीं है ।[20. (ii)] प्रत्यक्ष स्वयंमूलक है ।

धर्मराज अध्वरीन्द्र ने प्रत्यक्ष निरूपण में ज्ञान एवं विषय दोनों को प्रत्यक्ष माना है । अतः वेदान्तपरिभाषाकार ने विषयगत तथा ज्ञानगत के रूप में प्रत्यक्ष का दो भेद करते हैं । प्रत्यक्ष के सामान्य निरूपण में देखा जा चुका है कि प्रत्यक्ष का अर्थ है चैतन्य, चैतन्य ज्ञान मात्र के प्रत्यक्षत्व का सामान्य लक्षण है। धर्मराज स्पष्टतः कहते हैं कि प्रमातृ चैतन्य के साथ विषय की अभिन्नता ही विषय की अपरोक्षता की नियामिका है ।[21.] नैयायिक 'इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वं विषय प्रत्यक्षत्वम्' अर्थात् "इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान का विषय होना ही प्रत्यक्ष है" का लक्षण करते हैं । परन्तु वह मनोरूप इन्द्रिय से अनुमति ज्ञान में अतिव्याप्त होता है । इसलिए उसका परिहार करने के लिए घटादि विषय के प्रमाता का अभेद विषयगत प्रत्यक्ष को प्रयोजक बताया है । विषयगत प्रत्यक्षत्व बताकर अब ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बताते हैं । ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का शब्दार्थ है ज्ञान का प्रत्यक्षात्मक होना । प्रत्यक्ष ज्ञान का अर्थ है प्रत्यक्षाभिन्न ज्ञान । पहला ज्ञान है वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य और प्रत्यक्ष ज्ञान है- ब्रह्म चैतन्य जो समस्त जगदध्यास का अधिष्ठान है । अतः परिभाषाकार के अनुसार प्रमाण चैतन्य का विषय चैतन्य से अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक है ।[22.]

विषयगत तथा ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के पृथक्-पृथक् निरूपण के समान ही धर्मराज अध्वरीन्द्र प्रत्यक्ष पदार्थ के ज्ञानत्व पक्ष को लेकर दो भेद बताये हैं— ईश्वरसाक्षी तथा जीवसाक्षी । अन्त:करण अवच्छिन्न चैतन्य जीव है । और अन्त:करणोपहित चैतन्य ईश्वर है । चैतन्य रूप से उस एक ही ज्ञान को पुन: रामकृष्ण प्रणीत "शिखामणि" जीवसाक्षिजन्य-चैतन्य और ईश्वरसाक्षिजन्य चैतन्य दो प्रकार मानती है । इस पर शिवदत्त-प्रणीत "अर्थदीपिका" आक्षेप करती है कि शिखामणिकार ने जो साक्षिजन्य कहा है वह हमें मान्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान के चैतन्य रूप होने से उसमें {चैतन्न} जन्यत्व सम्भव नहीं । परन्तु चैतन्य रूप ज्ञान, अजन्य होने पर भी वृत्तिरूप ज्ञान अथवा वृत्तिविशिष्ट ज्ञान तो जन्य है ही, यह वेदान्त सिद्धान्त है । अत: शिखामणिकार का साक्षिद्विविध्य से प्रत्यक्षज्ञान का द्विविधत्व अवधारणा परिभाषाकार से संगत रखती है ।[23] परिभाषाकार विषयत्व पक्ष को लेकर प्रत्यक्ष का दो भेद किये हैं- सविकल्पक व निर्विकल्पक विकल्प का अर्थ होता है- वैशिष्ट्य जो ज्ञान विकल्प से युक्त होता है, वह सविकल्पक कहलाता है । परिभाषाकार ने वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं सविकल्पकम् इस प्रकार सविल्पक ज्ञान का लक्षण करके "मैं घट को जानता हूँ" । यह उदाहरण दिया है ।

सविकल्पक ज्ञान का लक्षण बताकर अब निर्विकल्पक ज्ञान का लक्षण बताते हैं । जिसे संसर्गावगाहि कहा है । संसर्ग का अर्थ है विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध इसी को वैशिष्ट्य कहते हैं । संसर्ग {वैशिष्ट्य} को न ग्रहण करने वाले ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं ।सोऽयम् देवदत्त: एवं तत्त्वमसि महावाक्य के श्रवण से जन्य ज्ञान निर्विकल्पक है ।

परन्तु निर्विकल्पक ज्ञान के प्रसंग में शंका हो सकती है कि 'सोऽयम् देवदत्त:' तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्यजन्य ज्ञान तो शाब्द ज्ञान के उदाहरण है, न कि प्रत्यक्ष ज्ञान के ? इसके परिहार में कहा जा सकता है कि यद्यपि सोऽयम् देवदत्त: इत्यादि ज्ञान शब्द जन्य है, इन्द्रिय जन्य नहीं है । किन्तु इन्द्रिय जन्य ज्ञान

ही प्रत्यक्ष होता है, शब्द जन्य नहीं, ऐसी मान्यता असंगत है । इन्द्रिय जन्यत्व ही प्रत्यक्ष का प्रयोजक होता तो, ऐसी शंका उचित थी । परिभाषाकार प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक प्रमाण चैतन्य का योग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद होना मानते हैं । जहाँ विषय सन्निकट होता है, वहाँ वाक्य से भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसा "दशमस्तत्त्वमसि" (तू दसवाँ है) इत्यादि उदाहरण से सिद्ध है । इसी के आधार पर वेदान्तवाक्य से निर्विकल्पक अपरोक्ष वस्तु के ज्ञान(अपरोक्षानुभूति) की सिद्धि की जाती है । वाक्य-जन्य ज्ञान होने पर भी वह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक क्यों है इसका उत्तर है कि उसका विषय प्रत्यक्ष स्वभाव है ।[24.]

वाचस्पति मिश्र सविकल्पक तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं । परन्तु नव्य न्याय के प्रतिपादक गंगेश निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में पदार्थ का असंबद्धात्मक ग्रहण मानते हैं । अतः निर्विकल्पक को न प्रमा कहा जा सकता है और न अप्रमा । बौद्ध तथा अद्वैतवेदान्त भी केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में ही विश्वास करते हैं । न्याय तथा पूर्व-उत्तर मीमांसा के अधिकतर विचारक सविकल्पक तथा निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष में विश्वास करते हैं ।[25.]

वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रत्यक्ष प्रमा का प्रकारान्तर से दो भेद किया है- इन्द्रियजन्य तथा इन्द्रियाजन्य । प्रथम को वृत्तिरूप तथा दूसरे को चैतन्य रूप ब्रह्म कहा जा सकता है । सुख, दुःखादि का प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य नहीं हैं क्योंकि वेदान्तपरिभाषाकर ने 'मन' को इन्द्रिय नहीं माना है । न्याय दर्शन में ज्ञानजनक छः इन्द्रियाँ स्वीकृत हैं जबकि वेदान्तपरिभाषा में ज्ञानजनक पाँच ही इन्द्रियों को स्वीकार किया गया है ।धर्मराज ने विषयगत तथा ज्ञानगत प्रत्यक्ष का निरूपण के साथ-साथ जीव साक्षि तथा ईश्वर साक्षि भेद से पुनः प्रत्यक्ष को द्विविध बतलाया है । सविल्पक तथा निर्विकल्पक भेद प्रत्यक्ष को भी स्वीकार किया है ।

अतः परिभाषाकार ने प्रत्यक्ष प्रमा के निरूपण में प्राचीन तथा नव्य प्रक्रिया का अनुकरण किया है । उदाहरण के लिए न्यायसूत्रकार गौतम ने प्रत्यक्ष जन्य ज्ञान

को इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के द्वारा 'प्राप्यकारितावाद' का प्रतिपादन किया है, क्योंकि सूत्रकार का लक्ष्य जन्य ज्ञान का निरूपण करना था, अजन्य का नहीं । परिभाषाकार ने वृत्तिरूप ज्ञान को तडागोदक-न्याय से तैजस अन्त:करण का परिणाम बताया है । इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष के समय अन्त:करण शरीर से बाहर निकलता है । तब "यह घट है" इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमा में घटादिविषय और तदाकार {घटाकार} वृत्ति का शरीर के बाहर एक स्थान में अवस्थान होने से उन दोनों से अवच्छिन्न हुआ 'चैतन्य' एक ही है । न्यायसूत्र की प्राप्कारितावाद भी यही है । जो चक्षुरिन्द्रिय बाह्य पदार्थ के पास जाकर उसका सन्निकर्ष करती है ।

पुनश्च, विश्वनाथ द्वारा 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' तथा गंगेश द्वारा प्रत्यक्ष प्रमा को स्वयंमूलक स्वीकार करना परिभाषाकार को भी प्रकारान्तर से मान्य है । प्रत्यक्षप्रमा चैतन्य स्वरूप ही है जो रूपत: अजन्य ही है ;क्योंकि चैतन्य के अभिव्यंजक वृत्ति के उत्पन्न से उस वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य को भी उत्पन्न होने वाला कहा जाता है अत: वृत्ति ज्ञान रूप नहीं है । वह तो ज्ञान का अवच्छेदक है एवम् ज्ञान का अवच्छेदक होने से वृत्ति को औपचारिक रूप से ज्ञान कह दिया जाता है ।

धर्मराज वेदान्ती होते हुए भी न्याय-दर्शन के मूर्धन्य चिन्तक थे । उन्होंने नव्य-न्याय के प्रथम ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' पर टीका का प्रणयन किया है । अतएव धर्मराज प्रत्यक्ष-प्रमा के निरूपण में प्राचीन एवं नव्य- न्याय की प्रक्रिया के प्रभाव से स्वयं को पृथक् नहीं कर पाये हैं ।

मानव की समस्त ज्ञान क्रियाएँ किसी न किसी अंश में प्रत्यक्ष पर आधारित हैं । दार्शनिक परम्परा में प्रत्यक्ष ही एक मात्र ऐसा प्रमाण है जिसे सभी ने एकमत से स्वीकार किया है । यही कारण है कि प्रमाणमीमांसा का आरम्भ प्रत्यक्ष प्रमाण के विश्लेषण से होता है । पाश्चात्य तर्कशास्त्री जे०एस० मिल भी इसे स्वीकार करते हैं । उनका अभिमत है कि "प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान ही वह मौलिक आधार

है जिस पर अन्य सभी ज्ञान अवलम्बित हैं ।[26] लोकोक्ति है कि प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्? शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है कि प्रत्यक्ष के सम्भव रहने पर अनुमानादि की कोई प्रवृत्ति नहीं रह जाती[27] अतः प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता स्वतः सिद्ध है ।

§।।।§अनुमान प्रमाणः-

प्रत्यक्ष- प्रमाण के निरूपण के अनन्तर अनुमान- प्रमाण का निरूपण किया जाता है । वेदान्त तथा न्याय-दोनों ही दर्शनों में 'अनुमान' प्रमाण के रूप में स्वीकृत है । न्याय-दर्शन में तो समस्त प्रमाणों में अनुमान का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है । कुछ दार्शनिक ने नैयायिकसम्मत अनुमान-प्रमाण को बिना विचार- विमर्श किए ही अध्याहार कर लिया है । अनुमान 'अनु' तथा 'मान' के योग से बना है । 'अनु' का अर्थ है 'पश्चात्' तथा मान का अर्थ है 'ज्ञान का करण' । अनु उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से भाव अर्थ में अथवा करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाकर यह 'अनुमान' शब्द सिद्ध होता है । भाव अर्थ में 'अनुमीयते इति अनुमानम्' या 'अनुमितिः अनुमानम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर अनुमान शब्द 'अनुमिति प्रमा' का बोधक है तथा 'अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर अनुमान शब्द अनुमिति प्रमा के 'करण' का बोध कराता है ।' अनुमितिकरणमनुमानम्' अनुमान का यह लक्षण सामान्यतः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में मान्य है, किन्तु अनुमिति प्रमा के स्वरूप तथा उसके करण के विषय में दार्शनिकों में मतैक्य का अभाव पाया जाता है ।

वेदान्त-दर्शन में अनुमान का क्रमबद्ध विवरण वेदान्तपरिभाषा तथा उसकी टीकाओं में प्राप्त होता है । वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराज अध्वरीन्द्र ने 'अनुमितिकरणमनुमानम्' [28] अर्थात् अनुमिति के असाधारण कारण को अनुमान कहते हैं- अनुमान प्रमाण का यह सामान्य लक्षण दिया है । यहाँ प्रमाण का नाम अनुमान है तथा तज्जन्य प्रमा को अनुमिति कहते हैं । अनुमान से तात्पर्य 'व्याप्तिज्ञान' से है, क्योंकि अनुमिति का करण ही अनुमान है तथा अनुमिति का करण ही

व्याप्तिज्ञान है । इस प्रकार व्याप्तिज्ञान ही अनुमान हुआ, क्योंकि व्याप्तिज्ञान से ही अनुमिति प्रमा की उत्पत्ति होती है । ध्यातव्य है कि अनुमान ही लक्ष्य और वही लक्षण भी है अन्तर इतना है कि जब 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय करते हैं, तो उस समय व्युत्पन्न अनुमान शब्द लक्षण परक हो जाता है और रूढ़ अनुमान शब्द लक्ष्य परक होता है । अनुमान का साधारण अर्थ व्याप्तिज्ञान होता है; क्योंकि व्याप्तिज्ञान से ही अनुमिति प्रमा उत्पन्न होती है । व्याप्तिज्ञान में जब अनुमान शब्द का प्रयोग किया जाता है तब 'अनुमीयते अनेनेति अनुमानम्' अर्थात् जिससे अनुमिति प्रमा उत्पन्न हो वह अनुमिति का कारण है, उसी को अनुमान कहते हैं ।

अनुमिति का करण तो व्याप्तिज्ञान है किन्तु यह अनुमिति है क्या ? वेदान्तपरिभाषानुसार, 'अनुमिति प्रमा व्याप्तिज्ञानत्व धर्म से अवच्छिन्न व्याप्तिज्ञान-जन्य होती है ।[29] अर्थात् जो व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न तो हुआ हो पर व्याप्तिज्ञान को विषय न करता हो उसे अनुमिति कहते हैं । व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसायादिकों को व्याप्तिज्ञानत्वे व्याप्तिज्ञानजन्यत्व नहीं है अतः व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय, स्मृति, शाब्दज्ञान आदि को अनुमितित्व नहीं है ।[30] इन्द्रियों से होनेवाला जो प्रथम ज्ञान है, वह 'व्यवसाय ज्ञान' कहलाता है और पश्चात् होनेवाला तद्विषयक-मानसज्ञान, अनुव्यवसाय-ज्ञान कहलाता है । इस व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय में व्यवसाय-ज्ञान कारण है । पर अनुव्यवसाय ज्ञान में व्याप्तिज्ञान विषयत्वेन कारण है । व्याप्तिज्ञानत्व के रूप से नहीं । उसी प्रकार व्याप्तिज्ञानजन्य स्मृति, शाब्दबोध, उसका ध्वंस आदिकों को भी व्याप्तिज्ञान कारण होते हुए भी व्याप्तिज्ञानत्वेन कारण नहीं हैं, अपितु अनुव्यवसाय में व्याप्तिज्ञान विषयत्वेन, स्मृति के प्रति विषयानुभवत्वेन और शाब्दज्ञान के प्रति पदार्थज्ञानत्वेन कारण है । इस प्रकार व्याप्तिज्ञानजन्य होने पर उनकी कारणता का अवच्छेदक (सीमानिर्धारक) व्याप्तिज्ञान नहीं होता । अनुमिति को समझने के लिए 'व्याप्तिज्ञानत्वेन' पद के निवेश का कारण समझना अत्यन्त आवश्यक है । ग्रन्थकार ने 'व्याप्तिज्ञानत्व' पद

का ही निवेश किया हैं, 'व्याप्तिविषयत्व' पद का नहीं । 'यह घट है' इस घटज्ञान में घटत्व धर्म प्रकार है, इसलिए इस ज्ञान को घटत्वप्रकारक ज्ञान कहते हैं । इसी तरह 'यह व्याप्ति है' इस ज्ञान में व्याप्तित्व धर्म प्रकार है, अतः इसे 'व्याप्तित्व-प्रकारक' ज्ञान कहते हैं । अतः व्याप्तिज्ञानत्व का निष्कृष्ट लक्षण हुआ 'व्याप्ति-प्रकारकज्ञानत्व' । 'शिखामणि' के लेखक रामकृष्ण के अनुसार व्याप्तिज्ञानत्वेनेति व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वेनेत्यर्थ है । उदाहरणार्थ- 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस ज्ञान में धूम की व्याप्ति रहती है, अतः धूम को 'वह्निव्याप्त' कहते है । इस व्याप्ति-प्रकारकज्ञान में व्याप्तिप्रकार ﴾विशेषण﴿ है । विशेषण का अर्थ है, विशेष्यते भिद्यते अनेन, अर्थात् जिसके द्वारा विशेष्य का गुण प्रकट हो सके । विशेषण विशिष्टता बोधक और व्यावर्तक होता है । इसलिए व्याप्तिज्ञान द्वारा जन्य होने में एक विशेषण ﴾व्याप्तिप्रकार-अवच्छेदक-सीमानिर्धारक﴿ लगाकर कहा गया है कि जिसके उत्पन्न होने में व्याप्तिज्ञान अपने व्याप्तिज्ञानत्व रूप से ही कारण हो वही अनुमिति है ।[31]

परिभाषाकार के अनुमिति विषयक अवधारणा के अनन्तर न्याय सम्मत मत वांछनीय है । गौतम ने 'तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्' इस रूप में अनुमान का लक्षण किया है । न्यायसूत्र में प्रयुक्त 'तत्' शब्द को वात्स्यायन ने लिङ्ग-लिङ्गि दर्शन' और 'लिंग दर्शन' दोनों माना है । लिंगी के साथ लिंग का सम्बन्ध ग्रहण हो जाने के उपरान्त लिंगदर्शन से व्याप्ति का स्मरण होता है । व्याप्तिस्मरण के बाद लिंगज्ञान होता हैं और लिंगज्ञान से परोक्ष वस्तु की जो जानकारी होती है, उसी को अनुमान कहते हैं ।[32] वाचस्पति मिश्र के अनुसार किसी लिंग के ज्ञान से उस लिंग को धारण करने वाली वस्तु का ज्ञान अनुमान कहलाता है ।[33] अन्य नैयायिक मानते हैं कि व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान ﴾व्याप्ति﴿ से युक्त वस्तुओं में एक ﴾व्याप्य﴿ पक्ष ﴾जिस स्थल पर किसी दिखाई न देती हुई वस्तु का अनुमान द्वारा ज्ञान किया जा रहा हो﴿ में है, इसके ज्ञानरूपी लिंगपरामर्श ﴾वह्निका व्याप्य

धूम यहाँ है§ से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है । तत्त्वचिन्तामणि के प्रणेता गंगेश अनुमिति का लक्षण करते हुए कहते हैं— व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति और उसके करण को अनुमान कहते हैं । अनुमान लिंग विषयक परामर्श है, न कि परामृश्यमान लिंग ।[34.]

अनुमिति पर विचार करने के उपरान्त अनुमिति करण का निरूपण प्रासंगिक है । वेदान्तपरिभाषा के अनुसार अनुमिति का करण व्याप्तिज्ञान है ।[35.] अनुमिति करण के सम्बन्ध में प्राचीन तथा नव्य- नैयायिकों में कुछ मतभेद है । प्राचीन नैयायिकों के अनुसार ज्ञायमान लिंग ही अनुमिति का करण होता है ।जबकि नव्य-नैयायिक लिंग ज्ञान को करण मानते हैं ।[37.] नव्य-नैयायिकों का कहना है कि ज्ञायमान लिंग को अनुमिति का करण मानने में दोष आता है; क्योंकि अतीत अनागतादि लिंग से भी अनुमिति होती है । यह तभी संभव है जबकि लिंग के करण न मानकर लिंगज्ञान को करण माना जाय । उदाहरणार्थ 'यह पाकशाला अतीत अग्नि युक्त थी, अतीत धूम युक्त होने से' §इयंपाकशाला अतीतवह्निमती अतीत धूमात्§ तथा 'यह यज्ञशाला भावी वह्निवाली है' §इयंयज्ञशालाभाविवह्निमती भाविधूमात्§, इत्यादि स्थलों में अतीत अनागत हेतु से भी अनुमिति देखी जाती है, परन्तु लिंग को अनुमिति का करण मानने पर वह न हो सकेगी, क्योंकि अतीत अनागत लिंग अनुमिति काल में विद्यमान नहीं है । अतः ज्ञायमान लिंग को नहीं अपितु लिंगज्ञान को अनुमिति का करण मानना चाहिए । यह नव्य-नैयायिकों का दृष्टिकोण है । किन्तु उपर्युक्त अनुमिति करण की मान्यता का खण्डन शिखामणि तथा मणिप्रभा §वे०प० की टीकाओं§ दोनों में ही उपलब्ध होता है । शिखामणि में इसकी आलोचना करते हुए लिखा गया है कि अयोग्यलिंगक अनुमिति में व्यभिचार होने के कारण यह मत युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जिस स्थल पर लिंग का प्रत्यक्ष नहीं होता, वहाँ परामर्श का व्यापार भी सम्भव नहीं है तथा व्यापार के न होने से लिंग में करणता नहीं मानी जा सकती है,[38.] क्योंकि व्यापारयुक्त असाधारण

कारण ही करण कहलाता है । व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति करण मानने पर कोई आपत्ति नहीं आती, क्योंकि व्यापारयुक्त असाधारण कारण ही करण कहलाता है । व्याप्तिज्ञान का संस्कार ही यहाँ मध्यवर्ती व्यापार है । लिंग को इसलिए भी करण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि धूलि-पटल में धूम का भ्रम होने के पश्चात् 'पर्वत वह्निमान है' ऐसी अयथार्थ अनुमिति तो होती ही है। किन्तु इस अयथार्थ अनुमिति में धूमरूप लिंग का नितान्त अभाव है, लिंग का करण नहीं माना जा सकता । इस प्रकार लिंग ज्ञान भी करण नहीं हो सकता, क्योंकि 'पर्वत पर धूम है' इस प्रकार का लिंगज्ञान होने के पश्चात् यदि किसी व्यक्ति को व्याप्ति सम्बन्ध का स्मरण न हो, तो उसे 'पर्वत वह्निमान' इत्याकारक अनुमिति कदापि नहीं हो सकती । अतः लिंगज्ञान को अनुमिति का करण कदापि नहीं माना जा सकता ।[39]

जिस प्रकार लिंग तथा लिंगज्ञान अनुमिति के प्रति करण नहीं, उसी प्रकार तृतीय लिंगपरामर्श भी अनुमिति के प्रति करण नहीं हो सकता । लिंगज्ञान को लिंगपरामर्श कहते हैं । वह लिंगपरामर्श अनुमिति से पूर्व तीन बार नैयायिकों को होता है । महानस में धूम तथा अग्नि की व्याप्ति में धूम का जो ज्ञान होता है, वह प्रथम लिंगज्ञान है । तत्पश्चात् पर्वत पर धूम का दर्शन होना द्वितीय लिंगज्ञान है । इसके पश्चात्, 'यह पर्वत् वह्निव्याप्य धूमवान् है', इत्याकारकज्ञान होता है, जिसमें भी धूम विषय है और धूम {लिंग} का यह तृतीय ज्ञान ही परामर्श कहलाता है । इसी के अव्यवहित पश्चात् ही पर्वत वह्निमान है, यह अनुमिति होती है । नैयायिक इस तृतीय लिंग परामर्श को अनुमिति का करण मानते हैं । वेदान्तपरिभाषा ने नैयायिकों के इस मत की आलोचना इस प्रकार की है । कि तृतीय लिंग परामर्श अनुमितिकरण नहीं है, क्योंकि उसमें अनुमिति का कारणत्व ही असिद्ध है । अतः असाधारण कारणरूप करणत्व तो दूर से ही निरस्त हो जाता है । परिभाषाकार के अनुसार पक्षधर्मताज्ञान से महानस में ग्रहण किया हुआ व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्बुद्ध {जागृत} होता है उसके उपरान्त व्याप्ति के

स्मरण से अनुमिति होती है । पक्षधर्मता का ज्ञान (पर्वत धूमवान् है, इस प्रकार पक्ष पर हेतु का ज्ञान) होने पर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं हो सकती ।[40] इस अन्वय-व्यतिरेक से अनुमिति व्याप्तिज्ञान ही करण है ।, लिंगपरामर्श अनुमिति में करण नहीं है ।

अनुमिति तथा अनुमितिकरण का विवेचन करने के पश्चात् अनुमान प्रक्रिया पर विचार करना उचित है । न्यायसम्मत अनुमान का क्रम इस प्रकार है--

1. पक्षधर्मताज्ञान - पर्वत धूमवान् है (पक्ष पर हेतु का होना) ।
2. व्याप्तिस्मरण - जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी रहती है (धूम वह्नि व्याप्य है ।)
3. लिंग परामर्श - व्याप्तिविशिष्ट धूम पर्वत पर है ।
4. अनुमिति - पर्वत वह्निमान है ।

इस प्रकार लिंगपरामर्श के अव्यवहित उत्तरकाल में ही अनुमिति होती है, किन्तु वेदान्तिमत में अनुमिति प्रमा का क्रम भिन्न है--

1. पक्ष धर्मताज्ञान- पर्वत धूमवान् है ।
2. व्याप्तिज्ञान के संस्कार का उद्बोध - धूम वह्निव्याप्य है । इस अनुभव से व्याप्तिज्ञान के संस्कार का जागृत होना ।
3. अनुमिति ज्ञान - पर्वत वह्निमान है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अनुमिति में व्याप्तिज्ञान ही कारण है परामर्श नहीं, क्योंकि परामर्श के बिना ही पक्षधर्मता का ज्ञान होने तथा व्याप्तिज्ञान के संस्कार जागृत हो जाने पर व्याप्तिस्मरण होने के पश्चात् अनुमिति हो जाती है । लिंग परामर्श तो वेदान्तपरिभाषा सम्मत अनुमिति की प्रक्रिया में होता ही नहीं है । अतः लिंग परामर्श करण नहीं हो सकता, जिससे असाधारण कारण होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । वेदान्तपरिभाषा में नैयायिकों का पूर्णतया खण्डन प्राप्त

होता है तथा वे स्वाभिमत से व्याप्तिज्ञान को ही अनुमिति का करण मानते हैं। वह व्याप्ति वह्निविषयक ज्ञान अंश में ही करण है, पर्वतविषयक ज्ञान अंश में नहीं। पर्वत अंश प्रत्यक्षात्मक है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही ज्ञात हो रहा होता है। "मैं पर्वत को देखता हूँ और वह्नि का अनुमान करता हूँ" यही अनुभव में आता है। इसलिए वहाँ अनुमिति और प्रत्यक्ष दो प्रकार का ज्ञान मानना पड़ता है।[41] न्यायवार्त्तिक में उद्योतकराचार्य अनुमान को प्रत्यक्ष पर आधारित बताया है। तथा दोनों में उपजीव्योपजीवक भाव सम्बन्ध माना है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है। यही कारण है कि सर्वत्र प्रत्यक्ष के पश्चात् ही अनुमान का निरूपण किया जाता है।[42]

अनुमान-प्रक्रिया के पश्चात् व्याप्ति का स्वरूप विवेचनीय है। व्याप्ति की परिभाषा जितनी आवश्यक है उतनी कठिन भी है। यौगिक व्युत्पत्ति के अनुसार व्याप्ति का अर्थ है 'व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध'। इनमें व्यापक अधिक देश में रहने वाले को तथा व्याप्य अल्प देश में रहने वाले को कहते हैं। जहाँ दोनों धर्म समान देश में रहते हैं, वहाँ दोनों ही परस्पर व्याप्य और व्यापक हो सकते हैं। जैसे अभिधेय और प्रमेय। जो अभिधेय है वह प्रमेय है और जो प्रमेय है वह अभिधेय है। इस प्रकार की व्याप्ति को समव्याप्ति कहते हैं। न्यूनाधिक विस्तार वाले दो पदों में जब व्याप्ति का सम्बन्ध होता है तो उसे असमव्याप्ति कहते हैं। जैसे धुँए और आग में धुँए से आग का अनुमान किया जा सकता है, किन्तु आग से धुँए का अनुमान नहीं किया जा सकता। ये दो बराबर विस्तार वाले पद हैं, क्योंकि जहाँ धुआँ रहता है वहाँ आग तो जरूर रहती है, परन्तु जहाँ आग रहती है वहाँ धुँए का रहना जरूरी नहीं हैं। जैसे तप्त लोहे के टुकड़े में आग है पर धुआँ नहीं। अतः यहाँ आग (व्यापक) का विस्तार अधिक है और धुँए (व्याप्य) का विस्तार उससे कम। इसलिए यह विषमव्याप्ति का उदाहरण है। इससे स्पष्ट है कि अनुमान के लिए किसी भी प्रकार की (सम या विषम) व्याप्ति का रहना आवश्यक है।

नैयायिकों के अनुसार व्याप्ति- हेतु का साध्य के आश्रयों में ही रहना, एवं जहाँ साध्य नहीं, वहाँ हेतु का भी नहीं रहना है ।[43] इसकी केवलान्वयी स्थल में अव्याप्ति होती है, क्योंकि व्यतिरेक अंश वहाँ नहीं लगता, क्योंकि प्रेयत्व वाच्यत्व आदि का अभाव कहीं नहीं मिलता ।'तत्त्वचिन्तामणि' में गंगेश ने व्याप्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है- प्रतियोगी के असमानाधिकरण हेतु के अधिकरण में रहने वाले अभाव के प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न जो भिन्न हो उसके साथ हेतु का सामानाधिकरण्य व्याप्ति है ।[44] जैसे, धुएँ के अधिकरण पर्वत में 'अग्नि नहीं है' ऐसा अभाव नहीं मिल सकता, 'घट नहीं है' ऐसा अभाव रह सकता है । उसकी प्रतियोगिता घटनिष्ठा है, प्रतियोगितावच्छेदक है घटत्व, उससे अवच्छिन्न है घट । उससे भिन्न है अग्नि । उसके साथ धुएँ का सामानाधिकरण्य है, यही धूम में अग्नि की व्याप्ति है । यह लक्षण केवलान्वयी में अव्याप्त नहीं, क्योंकि इसमें साध्याभाव पद का निवेश नहीं है ।

न्याय के प्रकरण ग्रन्थकारों में से केशवमिश्र ने साहचर्य नियम को व्याप्ति कहा है ।[45] तर्कदीपिका में साहचर्य नियम की व्याख्या करते हुए यह बताया गया है कि 'जहाँ-जहाँ हेतु रहता है वहाँ-वहाँ विद्यमान अत्यन्ताभाव का जो कभी प्रतियोगी न हो सके, ऐसे साध्य का सामानाधिकरण होना ही व्याप्ति है ।[46]

नैयायिक मतों का समन्वय करके निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि नैयायिक व्याप्ति की स्थापना अनुभव के आधार पर करते हैं । तथा हेतु साध्य का नियत साहचर्य ही व्याप्ति बतलाते हैं ।

नैयायिकों की तरह वेदान्ती भी व्याप्ति की स्थापना अनुभव द्वारा ही करते हैं । धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार अशेष साधनों के अधिकरण में रहने वाले साध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण ही व्याप्ति है । इसको और स्पष्ट करते हुए अर्थदीपिका के रचनाकार शिवदत्त ने कहा कि साधनावच्छेदकधर्म से विशिष्ट साधन

के अधिकरण में रहने वाले साध्यतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साध्य का हेतु के समान अधिकरण में रहना ही व्याप्ति है ।[47] संसार में जितने भी स्थानों पर धुआँ है वहाँ पर वह्नि भी होता है । अग्नि का अधिकरण ही धुएँ का अधिकरण होता है, यही स्थिति धुएँ में अग्नि की व्याप्ति है । वेदान्तपरिभाषा प्रतिपादित यह लक्षण नव्य-न्याय के लक्षण से अत्यधिक साम्य रखता है । वेदान्त सम्मत इस लक्षण में अशेष विशेषण से ही सभी संभव दोष निराकृत हो जाते हैं । इस व्याप्ति का ग्रहण व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचारदर्शन से किया जाता है । परिभाषाकार नैयायिकों के बार-बार सहचार दर्शन तथा तर्क से व्याप्ति ग्रहण को स्वीकार नहीं करते हैं । दो पदार्थों का नियमेन एकत्र दिखायी पड़ना ही सहचारदर्शन है । चाहे वह अनेक बार देखने से हुआ हो या एक बार के देखने से हुआ हो । केवल व्यभिचारशून्य सहचारदर्शन की आवश्यकता है अर्थात् जिनका सहचार ज्ञान हुआ हो, उनकी व्याप्ति का ग्रहण होता है और जिनका सहचार ज्ञान नहीं हुआ उनकी व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता । इस अन्वयव्यतिरेक के द्वारा वेदान्तदर्शन में बार-बार सहचार दर्शन अथवा एक बार सहचार दर्शन हो इस विषय में आग्रह नहीं है । सहचार दर्शन मात्र ही व्याप्ति ज्ञान का प्रयोजक है । शिखामणि, मणिप्रभा तथा अर्थदीपिका में भी इसी बात का समर्थन किया गया है । गंगेश का 'तर्क' जिससे व्याप्ति-विषयक सन्देह दूर किया जाता है, कार्य-कारण-भाव के अवलम्ब से रहित नहीं है । अतएव तर्क से व्याप्ति ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप करना तर्क है, वह व्याप्ति के अधीन है । अतएव गंगेश मानते हैं कि केवल तर्क को कारण मानने पर अनवस्था दोष होगा । इसके अतिरिक्त जिस व्यक्ति को एक बार के सहचार दर्शन से ही व्याप्ति का ज्ञान हो जायेगा, उसके लिए भूयोदर्शन निरर्थक है, चाहे वह तर्कसहकृत हो चाहे न हो । अतएव गंगेश के अनुसार व्यभिचार ज्ञान के अभाव से युक्त सहचार दर्शन ही व्याप्ति का ग्राहक है । विश्वनाथ तथा अन्नंभट्ट ने भी गंगेश के मत का समर्थन किया है ।[48]

यह अनुमान वेदान्तपरिभाषा में केवल एक ही प्रकार का स्वीकृत है- अन्वयी रूप । अन्वयी रूप का तात्पर्य है-'अन्वय मुख व्याप्ति ज्ञान रूपम्' । किन्तु नव्य नैयायिक लिंग की प्रकृति से अनुमान में भेद मानते हैं । चूँकि लिंग तीन प्रकार के होते हैं, अतः तदाश्रित अनुमान भी तीन प्रकार का होना चाहिए । केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी अनुमान को उद्योतकर ने भी बताया था । उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने इन भेदों को मान्यता दी । गंगेश के अनुसार 'जिस हेतु वाक्य में पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व ये तीनों रूप रहते हैं, उस हेतु वाक्य को अन्वयव्यतिरेकी, अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य के समान अधिकरण रूप पक्ष में जिस सद्हेतु का कथन किया जाये उसको केवलान्वयी' तथा अनुमिति के कारणीभूत परामर्श के प्रयोजक शब्दज्ञान के जनक साध्य-अविषयक शाब्दज्ञान के कारणीभूत जिस हेतुवाक्य में साध्य की अन्वय व्याप्ति की प्रतीति नहीं होती है, उस प्रकार के साध्य का साधन वाचक जो हेतु विभक्तियुक्त न्याय अवयव है, उसको व्यतिरेकी अथवा केवलव्यतिरेकी हेतु कहते हैं । वेदान्तपरिभाषाकार न्याय सम्मत अवधारणा से असहमत हैं, क्योंकि जहाँ साध्य अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं होता वैसी अनुमिति का करण केवलान्वयी होता है । वेदान्त मत में समस्त वस्तु ब्रह्म में आरोपित है । अतः सभी ब्रह्म निष्ठ अत्यंताभाव के प्रतियोगी हैं, अतः हेतु के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न हो, ऐसा कोई साध्य संभव नहीं । यहाँ शंका उत्पन्न होती है कि यदि व्यतिरेक व्याप्ति को न माना जाय, तब तो अन्वय व्याप्ति के ज्ञान से रहित व्यक्ति को धूम से वह्नि की अनुमिति कैसे हो सकती है? समाधानार्थ परिभाषाकार का कथन है कि अन्वय व्याप्ति से रहित व्यक्ति वह्नि का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण से करता है । अर्थापत्ति प्रमाण का निरूपण यथास्थान किया जायेगा । केवल व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान को अनुमिति का कारण अस्वीकार करने के कारण परिभाषाकार केवल अन्वयव्यतिरेक अनुमान भी अग्रहणीय मानते हैं; क्योंकि इसमें अन्वयव्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति का जनक है । पुनः व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का कारण मानना व्यर्थ ही है । अतः

परिभाषाकार नैयायिक सम्मत केवल अन्वयी, केवल व्यतिरेकी तथा केवल अन्वयव्यतिरेकी अनुमानों को अस्वीकृत करके एक मात्र अन्वयी रूप एक ही अनुमान ग्रहण करते हैं ।[49.]

परिभाषाकार अन्वयरूप एक अनुमान को मानकर उसे स्वार्थ तथा परार्थ भेद से दो प्रकार का बतलाते हैं- जहाँ स्वयं को ही साधन से साध्य {धूम से वह्नि} का ज्ञान करना अभीष्ट हो, तो वहाँ केवल व्यभिचार के अदर्शन तथा सहचार के दर्शन से व्याप्ति ग्रहण के बाद, कालान्तर में धूम का दर्शन होते ही व्याप्तिज्ञान जन्य संस्कार जागृत हो जाता है एवं साध्य का निश्चय हो जाता है । इसे स्वार्थानुमान कहा जाता है । इसे नैयायिक भी मानते हैं ।

प्रयोजन को ध्यान में रखकर किया गया अनुमान का दूसरा रूप परार्थानुमान कहलाता है । स्वार्थानुमान में वाक्य प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती, जबकि परार्थानुमान में वाक्यावयव से साध्य निश्चय होता है । इसलिए परार्थानुमान को न्यायसाध्य भी कहते हैं । न्याय का अर्थ है अवयवों का समूह । कितने अवयवों के प्रयोग से साध्य का निश्चय हो सकेगा, यह भी एक विचारणीय विषय है । भट्टपाद ने कहा है- उन अवयवों में कुछ लोग पाँच अवयव मानते हैं अन्य दो मानते हैं, किन्तु हम तीन अवयव मानते हैं- उदाहरणान्त अथवा उदाहरणादि ।[50.]

नैयायिकों ने- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन- पंच अवयवों को स्वीकार किया है । बौद्ध दर्शनकार ने अनुमान के दो ही अवयव माना है । मीमांसक तथा वेदान्ती अनुमान के तीन अवयव मानते हैं । मीमांसकों द्वारास्वीकृत किये गये उपर्युक्त दो पक्षों में से पहले पक्ष में उपनय और निगमन का कार्य, हेतु और प्रतिज्ञा का कार्य, उपनय और निगमन से हो सकता है । इसलिए प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों को मानने पर उपनय और निगमन रूप अधिक अवयवों के मानने की आवश्यकता नहीं है और उनको स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा और हेतुरूप अवयवों की आवश्यकता

नहीं होती । नैयायिक तथा वेदान्ती व्याप्ति के उपस्थापक उदाहरण को अवश्य मानते हैं; क्योंकि उदाहरण में हेतु और साध्य के अविच्छिन्न सम्बन्ध को व्यक्त किया जाता है ।[51].

वेदान्तपरिभाषा तथा न्याय विषयक अनुमान प्रमाण के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार धर्मराज ने न्याय दर्शन के विश्लेषणात्मक प्रक्रिया की सहायता से अपने दृष्टिकोण को अत्यन्त सार्थक रूप से प्रस्तुत किया है । इसके अतिरिक्त नैयायिक पक्ष का खण्डन् तथा स्वमत के प्रतिपादन में भी उसी प्रतिमान को ग्रहण किया है । जैसे-'अनुमिति' की प्रस्तुति में ग्रन्थकार ने व्याप्तिज्ञानत्वेन पद का निवेश करके- यह घट है, इस घटज्ञान में घटत्व धर्म प्रकार है, इसलिए इस ज्ञान को घटत्व प्रकार है । यह प्रकारक विशेषण है । विशेषण विशिष्टताबोधक तथा व्यावर्तक होता है । नव्य-न्याय में इसके लिए अवच्छेदक पद का प्रयोग किया जाता है । जिसके माध्यम से सामान्य घट तथा विशेष का भेद बताया जाता है । इसी तरह व्याप्ति निरूपण में नव्यन्याय के प्रतिपादन को ग्रन्थकार ने एक सीमा तक समर्थन किया है । परन्तु अनुमिति तथा व्याप्ति के निरूपण प्रक्रिया में समानता होते हुए भी अधिकांश अनुमान प्रमाण विषयक अवधारणा में दोनों पृथक् दृष्टिकोण रखते हैं । जैसे-- ग्रन्थकार ने अनुमिति के करण को व्याप्तिज्ञान बताकर प्राचीन तथा नव्य-नैयायिकों के लिंग तथा ज्ञायमान लिंग को अनुपयुक्त प्रतिपादित किया है । साथ ही लिंग-परामर्श को भी अनुमिति करण में अनुपयुक्त सिद्ध किया है । अनुमान प्रक्रिया में भी दोनों के दृष्टिकोण क्रम को लेकर असमान हैं । अनुमान के भेद विषयक नैयायिक दृष्टिकोण का ग्रन्थकार खण्डन कर केवल एक अनुमान को स्वीकारा तथा व्यतिरेक को अर्थापत्ति में अन्तर्भूत सिद्ध किया है । इस तरह ग्रन्थकार ने अनुमान प्रमाण में कतिपय नैयायिक पक्ष का समर्थन तथा अधिकांश दृष्टिकोणों का खण्डन कर अपनी मान्यता को प्रतिपादित किया है ।

§iv§ शब्द प्रमाणः-

अनुमान पर विचार करने के पश्चात् प्रमाणमीमांसा में शब्द प्रमाण पर विचार करेंगे । व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'शब्द' ध्वनि §शब्दयति§ का पर्याय है । किन्तु ज्ञान के साधनों के प्रसंग में 'शब्द' को एक प्रमाण माना गया है और यहाँ 'शब्द' इसी अर्थ में विचारणीय है । शब्द को सुनकर उसके अर्थ का ज्ञान होना, जन्य ज्ञानों की प्रत्यक्ष अनुमिति आदि कोटियों से सर्वथा पृथक् है ।

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार जिस वाक्य का तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग प्रमाणान्तर से बाधित होता, वह वाक्य आगम कहलाता है ।[52] वेदान्तियों के अनुसार वेदों का साक्षात्कार किया गया है, निर्माण नहीं, जबकि नैयायिकों का मत है कि वेदों का निर्माण ईश्वर ने किया न्यायसूत्रकार गौतम ने 'आप्तोपदेश' को शब्द कहा है ।[53] आप्त वह है जो सत्य का ज्ञाता और सत्य का वक्ता हो ।[54] किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इसमें कुछ परिवर्तन कर आप्तवाक्य को शब्द प्रमाण कहा है ।[55] नव्य-नैयायिक गंगेश तथा उनके अनुयायियों ने आप्तता के विचार को अस्वाभाविक मानकर उसको त्याग दिया । वे वाक्यार्थ ज्ञान को शब्द प्रमाण मानते हैं । वाक्य पदों का समूह है और पद वर्णों का सार्थक समूह है । अतः वाक्यार्थज्ञान से गंगेश का आशय है-'वाक्य के अन्तर्गत पदसमूह का स्मरणात्मक ज्ञान ।[56] चार्वाक, बौद्ध और वैशेषिक उपर्युक्त आधारों पर शब्द को पृथक् प्रमाण रूप में अस्वीकार करते हैं । चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण में विश्वास करते हैं । बौद्ध दार्शनिक शब्द प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत शामिल करते हैं; क्योंकि उनके मतानुसार किसी वाक्य के अर्थ का निर्धारण अनुमान-प्रक्रिया से बिल्कुल पृथक् नहीं है । वैशेषिकों के अनुसार शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में हो सकता है; क्योंकि शब्द और अनुमान का आधार समान है । अतः वैशेषिक दर्शन में शब्द प्रमाण की परिभाषा उपलब्ध नहीं होती । जैन दर्शन, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त में शब्द का पृथक् प्रमाणत्व स्वीकार किया गया है, किन्तु शब्द प्रमाण के आन्तरिक विश्लेषण में इन दर्शनों में परस्पर भिन्नता है ।

जैन दार्शनिक उमास्वाति ने यथार्थ के अभिधान को शब्द कहा है । वे अर्हत् के कथनों को ही प्रमाण मानते हैं, जबकि नैयायिक वेदों को पौरूषेय मानते हुए भी उनको आप्तवचन मानते हैं । सांख्य विचारक यद्यपि शब्द के लौकिक और वैदिक- दो भेद करते हैं, किन्तु लौकिक शब्द को वहाँ स्वतन्त्र प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जाता, क्योंकि इसे प्रत्यक्ष और अनुमान पर आश्रित माना जाता है । इसलिए सांख्य दर्शन केवल वैदिक शब्द को ही स्वतन्त्र प्रमाण मानता है । दूसरा पहलू यह है कि सांख्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया गया है। अतः वैदिक वाक्य पौरूषेय नहीं हो सकता। फिर भी इन अपौरूषेय वैदिक वाक्यों को सांख्यदर्शन में नित्य नहीं माना जाता, क्योंकि यह द्रष्टा ऋषियों की दिव्य अनुभूतियों से उत्पन्न हैं । साथ ही ये सनातन पठन-पाठन की परम्परा से सुरक्षित रहते हैं । अतः सांख्य दर्शन में वैदिक वाक्य को अपौरूषेय और अभ्रान्त सत्य मानने पर भी इसे नित्य नहीं माना जाता ।

सांख्य दर्शन के समान मीमांसा दर्शन निरीश्वरवादी होते हुए भी वेद को नित्य तथा वैदिक वाक्य को अपौरूषेय मानता है । कुमारिल मानते हैं कि शब्द प्रमाण वह कथन है, जो शब्दों का अर्थ जाननेवाले श्रोता को उस तथ्य का बोध करा देता है, जो श्रोता के प्रत्यक्षण की सीमा से बाहर बतलाते हैं । प्रभाकर के अनुसार पौरूषेय शाब्दबोध तो अनुमान में अन्तर्भूत हो जाता है, अतः अपौरूषेय वैदिक वाक्यों से जन्य ज्ञान ही शाब्दी प्रमा है, क्योंकि मीमांसादर्शन के ऋषि-महर्षि वेदमन्त्रों के रचयिता नहीं, केवल उन्हें अनुभूत करने वाले हैं-ऋषयो मंत्रद्रष्टारः

शब्द-प्रमाण को स्वीकारने वाले सभी दार्शनिक इस बात पर सहमत हैं कि आप्तपुरूषों का कथन ही शब्द प्रमाण है । अतः शब्द के संदर्भ में जिन प्रमुख विषयों पर विवेचन अपेक्षित है, वे वाक्य से ही सम्बद्ध हैं । प्रकरण ग्रन्थकारों ने शब्द प्रमाण की परिभाषा में उपदेश के स्थान पर वाक्य शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया कि इस संदर्भ में वाक्य का अपना विशिष्ट महत्त्व है । यद्यपि पदों के समूह को वाक्य कहा जाता है । परन्तु उन्हीं पदों के समूह को वाक्य कहा जा सकता है जिनके समूह से निश्चित अर्थ निकले । अतएव वाक्य के स्वरूप तथा वाक्य के अर्थ

पर विचार की आवश्यकता प्रतीत होती है । वक्ता अपने अभिप्राय को श्रोता तक पहुँचाने के हेतु इस समूहभूत वाक्य का प्रयोग करता है । अपने अभीष्ट अर्थ को श्रोता तक प्रेषित करने हेतु वक्ता अपने अभिप्रेत अर्थ को संकेतित करने में समर्थ पदों का प्रयोग करता है, ये सभी पद मिलकर एक पूर्ण अर्थ का अभिधान करते हैं । इस अर्थ बोध का आधार शब्द के रूप में पद होने के कारण इस बोध को शाब्दबोध या शाब्दी प्रमा कहा जाता है ।

प्राय: सभी विचारक वाक्य ज्ञान के लिए वाक्यगत पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति या सन्निधि तथा तात्पर्यज्ञान आवश्यक मानते हैं ।[57] वेदान्तपरिभाषा वाक्य ज्ञान में इन चारों को कारण मानती है ।[58] इनके स्वरूप पर पृथक्-पृथक् विचार करना अपेक्षणीय है ।

आकांक्षा– कोई भी वाक्य कम से कम दो पदों के मेल से बनता है, जिनके श्रवण से पदार्थ का बोध होता है । इन पदार्थों में एक दूसरे की जिज्ञासा विषयता की योग्यता रहती है, जिसे आकांक्षा कहते हैं ।[59] ऐसी परस्पर अपेक्षा की योग्यता जिन पदों में रहती है, उन पदों को साकांक्ष कहते हैं, जैसे 'गामानय' । इस वाक्य के 'गाम्' पद को सुनते ही 'आनय' पद की आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है । वाक्य की पूर्णता एवं वाक्यार्थबोध के लिए आकांक्षा अत्यावश्यक है । आकांक्षा से रहित 'गौरश्व: पुरूष: हस्ती' यह पदसमूह वाक्य नहीं है । जिज्ञासा रहित व्यक्ति को भी वाक्यार्थ का बोध होने से उस बोध में आकांक्षा का लक्षण अव्याप्त न हो इसीलिए ग्रन्थकार ने लक्षण में 'योग्यत्व' पद दिया है । क्रिया, कारकत्व आदि धर्म उस योग्यता के अवच्छेदक होने से आकांक्षा के लक्षण की 'गौ अश्व: पुरूष:' आदि पदसमूह में अतिव्याप्ति नहीं होती है । चूँकि क्रियात्व कारकत्वादि योग्यता के अवच्छेदक है । अत: 'गौ अश्व: पुरूष:' इत्यादि प्रथमान्त पद के वाच्यार्थ में क्रियात्व, कारकत्व का अभाव होने के कारण आकांक्षा नहीं है । इसलिए उनसे पदार्थों का संसर्ग बोध रूप वाक्यार्थ ज्ञान भी नहीं होता है । 'तत्त्वमसि' इत्यादि

वाक्यों में सभी पद समान विभक्ति वाले हैं और उन दोनों पदों से अभेद अर्थ का प्रतिपादन ही अभीष्ट होने के कारण योग्यता के अवच्छेदक के विद्यमान होने से अव्याप्ति दोष नहीं है, परन्तु यही नियम 'गौरश्वः' आदि पदसमूह के लिए नहीं किया जा सकता, क्योंकि अर्थ का प्रतिपादन इष्ट नहीं है । भाट्टमीमांसकों ने आकांक्षा को शाब्दबोध में अनिवार्य कारण माना है । मानमेयोदयकार का कहना है कि 'गौः अश्वः हस्ती' - इत्यादि निराकांक्ष पदों के द्वारा शाब्दबोध नहीं होता है, अतः आकांक्षा को शाब्दबोध में कारण मानना आवश्यक है ।[60.]

नैयायिकों के अनुसार अपने को अपेक्षित दूसरे पद के अभाव के कारण एक पद का शाब्दबोध न होना ही आकांक्षा है ।[61.] यह अन्वयबोधाभाव ही आकांक्षा है । किन्तु नैयायिकाभिमत अन्वयबोधाभावरूप आकांक्षा का यह लक्षण उचित नहीं है, क्योंकि वेदान्त में पद की आकांक्षा नहीं मानी जाती, बल्कि पद के अर्थ की मानी जाती है ।[62.] मीमांसाचार्यों का भी यही मत है । चूँकि मीमांसा वाक्यार्थ के निर्णयार्थ ही प्रवृत्ति हुई है अतः वाक्यार्थ विधि के प्रसंग में मीमांसकों का मत ही सर्वाधि सुसंगत है जिसका वेदान्ती भी अनुसरण करते है ।[63.] योग्यता:- वाक्यजन्य ज्ञान में जो वाक्यगत पद परस्पर मिलने की आकांक्षा रखते हैं उनमें मिलने की योग्यता भी रहनी चाहिए । योग्यता का आशय है अर्थ का अविरोधी होना ताकि पद विशेष के अर्थ का वाक्य के दूसरे पदों के साथ अन्वय करने पर अपलाप न हो 'आग से सींचो' इस वाक्य के पदों में आकांक्षा तो है, परन्तु योग्यता नहीं है, क्योंकि आग और सींचने में परस्पर विरोध है । नैयायिक बाधक प्रमा के अभाव को योग्यता कहते हैं । अन्नंभट्ट का यही विचार है । उपर्युक्त उदाहरण में 'आग' पद से जो अर्थ निकलता है वह सींच रहा है क्रियापद के साथ सम्बन्ध प्राप्त कर ही नहीं सकता है । आग से जलाना सम्भव है, सींचना कदापि नहीं । इसीलिए नव्य-न्याय में अयोग्यता- ज्ञान को शब्द-बोध का प्रतिबन्धक मानकर अयोग्यता-ज्ञानाभाव को शाब्द-बोध का कारण माना गया है; क्योंकि जो पद परस्पर साकांक्ष हैं वे योग्य अवश्य होंगे, अयोग्य पदों में आकांक्षापूर्ति का सामर्थ्य नहीं

हो सकता है । परन्तु यह धारणा तर्कसंगत नहीं, क्योंकि इस प्रकार से तो 'आग से सींचो' इत्यादि वाक्य में अयोग्यता के होते हुए भी शाब्द-बोध हो सकेगा । वेदान्तपरिभाषाकार संसर्ग के बाध को योग्यता कहा है । वे तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग के बाध न होने को ही योग्यता मानते हैं ।[64]

भाट्टमतावलम्बी नारायण भट्ट इसी का समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'आग से सींचो' आदि में योग्यता नहीं है, क्योंकि आग में सिंचन कारणत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है । ध्यातव्य है कि 'स प्रजापतिरात्मनोवपामुदक्खिदत्' इस वाक्य का तात्पर्यविषयीभूतसंसर्ग चर्बी के खरोचने में नहीं है, पशु याग की प्रशंसा में है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने के कारण इस वाक्य में भी योग्यता न होने से यह श्रुतिवाक्य अप्रामाणित है । योग्यता के इस लक्षण की अर्थवाद आदि वाक्यों में अव्याप्ति नहीं है । इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी योग्यता विद्यमान है । तत्त्वमसि महावाक्य का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ तत् त्वम् पदार्थ का अभेद ही है । इन पदों के द्वारा लक्ष्यार्थ विवक्षित है और वह लक्ष्यार्थ अबाधित है । इस तरह वाक्यार्थ के परस्पर सम्बन्ध का अपलाप न होना ही योग्यता है ।[65]

आसत्ति या सन्निधि- वाक्य के सार्थक होने के लिए शब्दों में आकांक्षा, योग्यता के अतिरिक्त सन्निधि का रहना भी आवश्यक है । दो या दो से अधिक पदों का बिना अन्तराल के रहना ही सन्निधि है । इसी को 'आसत्ति' भी कहते हैं । वेदान्तपरिभाषाकार ने व्यवधानरहित पदजन्य पदार्थों की उपस्थिति को आसत्ति कहा है ।[66] तर्कदीपिका में कहा गया है कि सन्निधि का अर्थ शब्दों का निरन्तर बोध है । नारायणभट्ट का मत है पदार्थों में सन्निहितत्वेन बोधितत्व होना ही सन्निधि पदार्थ है ।[67] 'गाम्' पद के अन्त्य वर्ण मकार के तुरन्त उच्चारण के बाद 'आनय' पद के आदि वर्ण का उच्चारण प्रारम्भ हो जाना चाहिए । इन

दोनों पदों का विलम्ब से उच्चारण करने पर पदों में आसत्ति का अभाव होगा । वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रत्यक्षात्मक उपस्थिति के निवारण के लिए 'पदजन्य' विशेषण दिया है । अर्थात् सामने 'घट' दिखायी पड़ने पर कोई व्यक्ति अंगुलिनिर्देश-पूर्वक घट का ज्ञान कराये तो घट का ज्ञान अव्यवधान होने पर भी 'पदजन्य' नहीं है । वह प्रत्यक्षज्ञान है, अतः लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है । जहाँ पदार्थ अश्रुत हो, वहाँ पर श्रुत पदार्थ के साथ सम्बन्ध के योग्य पदार्थ का अध्याहार करना पड़ता है । अतएव 'द्वारम्' शब्द के सुनते ही 'पिधेहि' का अध्याहार करते ही 'द्वार को बन्द करो' - ऐसा शाब्द बोध होता है । लौकिक वाक्य के समान वेद में भी पद का अध्याहार कर शाब्दबोध बतलाया गया है ।

उपर्युक्त स्वरूप की आसत्ति होने पर पदों से शाब्दबोध होता है और वह न हो तो शाब्दबोध नहीं होता है । इस अन्वयव्यतिरेक को देखने से आसत्ति की शाब्दबोध में कारणता निश्चित होती है ।[68] तात्पर्य-- अद्वैतवेदान्ती तथा कतिपय नैयायिक (जयन्तभट्ट) ने तात्पर्यज्ञान को भी शाब्दबोध में कारण माना है । न्याय दर्शन में जयन्त ने इस सिद्धान्त की सर्वप्रथम व्याख्या की है । वेदान्त-परिभाषा ने इसका विस्तृत विवेचन किया है ।[69] तन्त्रवार्त्तिक में कुमारिल ने आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि मात्र का उल्लेख किया है । [70] श्लोकवार्त्तिक में इन तीनों का पृथक् एवं स्पष्ट विवेचन नहीं प्राप्त होता । नैयायिक मानते हैं कि स्वाभीष्ट अर्थ की प्राप्त कराने की इच्छा से वाक्य उच्चरित तत्त्व को तात्पर्य कहा जाता है ।[71] अर्थात् विवक्षित अर्थ (वस्तु) की प्रतीति की इच्छा से उच्चारण होना ही तात्पर्य है । वेदान्तपरिभाषाकार ने तात्पर्य का परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत करते हुए नैयायिकों के लक्षण को समीचीन नहीं माना है, क्योंकि इस लक्षण को मानने पर अर्थज्ञान से शून्य व्यक्ति के द्वारा कहे गये वेदवाक्य के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा ।[72] जबकि अर्थज्ञान से रहित वक्ता द्वारा 'अग्निमीले' अक्षरों का उच्चारण होते ही सुनने वालों को तत्काल 'अग्नि स्तुति' अर्थ की प्रतीति दिखाई

पड़ती है । नैयायिकों का मत है कि ऐसे स्थलों में तात्पर्यभ्रम से ज्ञान होता है, किन्तु वेदान्तपरिभाषाकार का कहना है कि यह अध्यापक अव्युत्पन्न है इस प्रकार अध्यापक में व्युत्पत्ति का अभावरूप विशेष के ज्ञात रहने पर भी वाक्यार्थबोध होता है, अतः तात्पर्यभ्रम भी नहीं कहा जा सकता । यदि नैयायिक कहें कि ईश्वरीय तात्पर्यज्ञान द्वारा अर्थज्ञान शून्य पुरुष द्वारा उच्चारण किये गये वेदवाक्य से वहाँ शाब्दबोध हो जायेगा तो यह भी असमीचीन है, क्योंकि ईश्वर को न मानने वाले को भी वाक्यार्थबोध होता देखा गया है ।

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार पदार्थों के संसर्ग का अनुभव करने की वाक्य में योग्यता होना ही तात्पर्य है ।[73] जैसे-'गेहे घटः' यह वाक्य घर तथा घट के आधाराधेयभाव सम्बन्धबोधन में योग्य है न कि घर पट के सम्बन्ध बोधन में । इसी प्रकार अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति के भी वेद मन्त्र का उच्चारण करने पर उस मन्त्र में पदार्थों के संसर्गप्रतीतिजननयोग्यता रूप ताप्पर्य के विद्यमान होने से श्रोता को अर्थबोध हो जाता है । इसलिए जो वाक्य जिस पदार्थ के संसर्गप्रतीतिजनन में समर्थ होता है, वह वाक्य तत्परक माना जाता है । जैसे-'गेहे घटः' यह गृह तथा घट के संसर्गबोधन में समर्थ है, घर और पट के नहीं । जो वाक्य वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्रतीति करा देने की सामर्थ्य रखता है एवं जो वाक्य विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ बताने की इच्छा से उच्चारण नहीं किया गया हो-- वही उसका तात्पर्य है । तात्पर्य का ऐसा लक्षण करने पर 'सैन्धवमानय' इत्यादिवाक्य लक्षणपरत्व ज्ञान दशा में अश्वादि संसर्ग का बोध नहीं करायेगा ।[74]

प्रश्न है कि उपर्युक्त लक्षण मानने पर शुकोच्चरित वाक्य तथा अव्युत्पन्न पुरुष के वाक्य में अव्याप्ति होगी क्योंकि उच्चारण करते समय 'अमुक अर्थ की प्रतीति हो' या तद्भिन्न अर्थ की प्रतीति न हो- ऐसी कोई इच्छा उनमें नहीं होती, क्योंकि उन वाक्यों का अर्थज्ञान उन्हें स्वयं नहीं है । इसका समाधान है कि चूँकि अपने विवक्षित अर्थबोधजनन की योग्यता उक्त वाक्यों में हैं तथा उससे भिन्न अर्थ की

प्रतीति की इच्छा से इनका उच्चारण भी नहीं किया गया है अत: यहाँ अव्याप्ति नहीं हो सकती । वेदान्ती शक्ति को ही विवक्षित अर्थ प्रतीतिमात्रजनन योग्यता का अवच्छेद मानते हैं । अपने-अपने अर्थबोधन में शब्द की शक्ति है— यह सर्वमान्य मत है. । अत: शब्द में विशिष्ट शक्ति होने पर विशिष्टार्थ प्रतीति करा देने की योग्यता रहती है ।

धर्मराज अध्वरीन्द्र ने आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के अतिरिक्त तात्पर्य ज्ञान की वाक्य के प्रति कारणता को स्वीकार किया है । जबकि प्राचीन नैयायिक तात्पर्यज्ञान का उल्लेख ही नहीं करते हैं । जयन्तभट्ट ने सर्वप्रथम इसका निरूपण किया है ।

शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यज्ञान की कारणतासिद्ध होने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि इस वाक्य का तात्पर्य किस अर्थ में है— यह कैसे निश्चित किया जाय ? तात्पर्य का निश्चायक वेद तथा लोक एक ही है या भिन्न-भिन्न ? वेदान्तपरिभाषाकार का कहना है कि वेद तथा लोक में तात्पर्य के निश्चायक भिन्न-भिन्न है । उनके अनुसार वैदिक वाक्यों में तात्पर्य का निश्चय मीमांसा द्वारा परिशोधित न्यायों से होता है, क्योंकि बिना मीमांसा के वेदों का यथार्थ तात्पर्य ज्ञान नहीं हो सकता । लौकिक वाक्यों का तात्पर्य प्रकरण आदि से ज्ञात होता है । जैसे, 'देव: प्रमाणम्' इस वाक्य के राजप्रकरण में पठित होने से यहाँ देव शब्द का राजा अर्थ में तात्पर्य है । लौकिक वाक्यों द्वारा बताया जाने वाला अर्थ प्रमाणान्तर से ज्ञात होने के कारण अपूर्व नहीं होता । इसलिए लौकिक वाक्यों में सिद्ध वस्तु का अनुवादकत्व रहता है । किन्तु वैदिक वाक्य अनुवाद रूप न होकर अपूर्व अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । ग्रन्थकार मानते हैं कि कार्यपरक शब्दों के समान लोक तथा वेद में सिद्धार्थबोधक शब्दों में भी प्रामाण्य होता है । कार्यपरक शब्दों से जिस उन शब्दों का सामर्थ्य समझ में आता है उसी प्रकार, 'पुत्रस्ते जात:' इत्यादि सिद्धार्थपरक शब्दों का भी शक्तिग्रह होता है । इसी तरह वेदान्तवाक्यों का न तो क्रियाबोधन में और न ही उपासनाबोधन में तात्पर्य है । ये स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म अर्थ के बोधक हैं । ब्रह्म

में ही तात्पर्य होने के कारण इनको प्रामाण्य कहा गया है ।[75]

वाक्यार्थ-विचार के बाद वाक्यार्थ-बोध विवेचनीय है । वाक्यार्थ-बोध का तात्पर्य है कि अर्थ समग्र वाक्य से निकलता है या वाक्य के घटक पदों के अर्थों के मिलने से निकलता है । विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों में इस संदर्भ में दो मत प्रचलित हैं— अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद । प्रथम के अनुसार पहले वाक्य के पदों से पदार्थों का अभिधान होता है तत्पश्चात् इन्हीं अभिहित पदार्थों के अन्वय द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है । यद्यपि अद्वैतवेदान्ती तथा नैयायिक अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करते हैं । लेकिन वेदान्तपरिभाषाकार नैयायिक दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं । चूँकि नैयायिक पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप में ही वाक्यार्थ मानते हैं, इसलिए वे पदार्थों के पारस्परिक संसर्ग रूप वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थ द्वारा ही मानते हैं । जयन्त भट्ट जैसे नैयायिक अभिहितान्वयवाद को स्वीकार नहीं करते हैं । शब्द टीम की तरह कार्य करते हैं, और जिस प्रकार खिलाड़ियों से पृथक् टीम का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार शब्दों से पृथक् वाक्य की भी सत्ता नहीं मानी जा सकती । संहति अर्थ को बताने वाला पद समूह वाक्य है ।

प्रभाकर अन्विताभिधानवादियों की श्रेणी में परिगणित होते हैं । उनके अनुसार वाक्य से ही व्यवहार होता है, पद से नहीं । पदों का अर्थ वाक्य में प्रयुक्त होने के कारण ही माना जाता है । जयन्त भट्ट ने अन्विताभिधान वाद का खण्डन करते हुए यह कहा कि समग्र वाक्य को अर्थ का बोधक मानने पर ज्ञान को प्राप्त करना ही असम्भव हो जायेगा क्योंकि वाक्यों की संख्या अनन्त है ।[76]

शब्द से अर्थ की अवगति मानने वाले सभी आचार्यों ने शाब्दबोध में शक्ति को सहकारी कारण के रूप में स्वीकार किया है । पद में समवेत अर्थ के प्रकाशनानुकूल सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं । नैयायिकों ने 'शक्ति' को पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया है, किन्तु शक्ति के द्वारा ही वे पद से अर्थ बोध को मानते हैं ।

वेदान्ती तथा मीमांसक दोनों शक्ति को पृथक् पदार्थ मानकर उससे अर्थबोध को मानते हैं। प्राचीन नैयायिक मानते हैं कि 'अमुक पद से अमुक अर्थ का ग्रहण करना चाहिए' इस प्रकार की ईश्वरीय इच्छा विशेष के कारण ही लोक व्यवहार में किसी पद का कोई अर्थ विशेष हुआ करता है। घट पद से घट व्यक्ति को बोध हो- इस प्रकार की ईश्वरेच्छा ही शक्ति है। नव्य-न्याय में ईश्वरीय इच्छा के स्थान पर केवल इच्छा को ही शक्ति का कारण माना है। वेदान्तियों ने नैयायिकों के इस मत का खण्डन करते हुए शक्ति को पृथक् माना है। शक्ति का ईश्वरेच्छा रूप होना सम्भव नहीं है; क्योंकि मनुष्य की इच्छा से रूढ़ होने वाली नदी, नगर आदि की संज्ञाओं में ईश्वरेच्छा नहीं होती। सामान्य इच्छारूप शक्ति को मानना भी संभव नहीं हैं, क्योंकि मनुष्य पट आदि इच्छा से घट आदि पद का उच्चारण करें, तो वहाँ भी इच्छा के विद्यमान होने से घट पद पट में भी शक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव इस वृत्तिरूप शक्ति को भी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है। अद्वैतवेदान्ती केवल पदार्थबोधन सामर्थ्य रूप पदवृत्ति शक्ति को ही पृथक् पदार्थ नहीं मानते, अपितु संसार की समस्त वस्तुओं के कारणों में विद्यमान कार्योत्पादनानुकूलता (कार्योत्पत्ति की योग्यता) को ही शक्ति मानकर, सामान्य शक्ति को भी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि नैयायिकों-(प्राचीन-ईश्वरेच्छा तथा नव्य नैयायिक- केवल इच्छा-) के शक्तिवाद को वेदान्तपरिभाषाकार स्वीकार नहीं करते हैं। बल्कि शक्ति को पृथक् पदार्थ मानते हैं।[77]

नैयायिकों ने वाच्य वाचक का सम्बन्ध सांकेतिक मानते हुए इसे तीन प्रकार का माना है। अतः पदार्थबोध भी तीन प्रकार का है- मुख्यार्थ या शक्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा परिभाषित। इन्हीं के प्रकाशनार्थ उन्होंने अभिधा, लक्षणा तथा परिभाषा को स्वीकृति दी है। वेदान्तपरिभाषा ने भी शक्यार्थ तथा लक्षणार्थ दो प्रकार का पदार्थ बोध माना है तथा इनके द्योतन के लिए अभिधा और लक्षणा को स्वीकार किया है। नैयायिक इसी शक्ति को वृत्ति कहते हैं। यह दो प्रकार की मानी

जाती है- शक्ति और लक्षणा । इसी शक्ति को दूसरे शास्त्रों में अभिधा कहा जाता है । अद्वैतवेदान्तियों ने अभिधा तथा लक्षणा दो शब्द शक्तियाँ माना है । पदों के अपने-अपने अर्थों में रहने वाली मुख्यवृत्ति को शक्तिवृत्ति कहते हैं ।[78.] अभिधावृत्ति के शब्दगत मुख्यवृत्ति होने के कारण सभी इसे निर्विरोध रूप से स्वीकार करते हैं । इसी प्रकार प्रायः सभी दार्शनिकों ने लक्षण वृत्ति को मान्यता दी है । वेदान्तपरिभाषा के अनुसार शक्य सम्बन्ध का नाम लक्षणा है तथा लक्षणावृत्ति के विषय को लक्ष्य कहते है ।[79.] शक्ति वृत्ति के विषय को शक्य कहा जाता है तथा शक्यार्थ के साथ सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं । लक्षणा के केवललक्षणा तथा लक्षित लक्षणा दो भेद होते हैं ।

प्रकारान्तर से लक्षणा के तीन प्रकार होते हैं- जहत्, अजहत् तथा जहदजहत् । इनमें से जहाँ पर शक्यार्थ का अन्तर्भाव न कर अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसे जहत्लक्षणा कहते हैं । जहाँ शक्यार्थ का अन्तर्भाव कर अर्थान्तर की प्रतिति होती है । उसे अजहत्लक्षणा कहते हैं । जहाँ पर विशिष्ट अर्थ का वाचक शब्द अपने वाच्य के एकदेश विशेषण अंश का परित्यागकर के एकदेश केवल विशेष्य अर्थ का बोधन करे, वहाँ जहदजहत्लक्षणा होती है । इसे ही भागलक्षणाऔर भागत्यागलक्षणा भी कहते हैं ।

वेदान्तपरिभाषाकार ने लक्षणा का निरूपण अत्यंत विस्तार से किया है । उन्होंने 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थबोध के प्रसंग में प्राचीन वेदान्तियों को मान्य भागत्यागलक्षणा को स्वीकार नहीं किया है । सर्वज्ञात्मपाद, सदानन्दयोगीन्द्रप्रभृति अद्वैतवेदान्तियों ने इसी जहदजहत्लक्षणा से 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थबोध सिद्ध किया है । इन विद्वानों के अनुसार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद का वाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य एवं 'त्वं' पद का वाच्य अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य की एकता सम्भव न होने से उस एकता की सिद्धि के लिए स्वरूप में लक्षणा कर दी जाती है । धर्मराज अध्वरीन्द्र का मत है कि उक्त स्थल में लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि शक्तिवृत्ति से ज्ञात हुए तत्काल तथा एतत्काल से विशिष्ट देवदत्त

के अभेदान्वय रूप अर्थ की अनुपपत्ति रहने पर भी शक्तिवृत्ति से ही उपस्थित हुए विशेष्यों का अभेदान्वय करने में किसी प्रकार विरोध नहीं है अर्थात् शक्तिवृत्ति के द्वारा स्वतंत्र रूप से उपस्थित 'तत्', त्वम् पदार्थों के अभेदान्वय में कोई बाधक न होने के कारण लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार धर्मराजअध्वरीन्द्र ने 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थबोध में लक्षणा को न स्वीकार कर करके एक नवीनता प्रतिपादित की है ।[80]

वेदान्तपरिभाषाकार ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से शब्द प्रमाण को प्रत्यक्ष तथा अनुमान से स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध किया है । शब्दज्ञान उत्पन्न होने की पद्धति प्रत्यक्ष या अनुमानजन्य ज्ञान की विधि से निश्चित ही भिन्न है । जैसे, यदि हम किसी विश्वसनीय सूत्र से सुनते हैं कि रूस या अमेरिका के कुछ व्यक्तियों ने अन्तरिक्ष यात्रा की है तो निश्चय ही इस शब्दज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्ष या अनुमान से भिन्न रूप में होती है । शब्दज्ञान में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्यज्ञान की कारणता होती है, जबकि अनुमिति में इनकी कारणता नहीं होती । इसी प्रकार अनुमान प्रमाण में व्याप्ति ज्ञान आवश्यक होता है, बिना व्याप्तिज्ञान के अनुमिति नहीं हो सकती, शब्द-प्रमाण में व्याप्ति न होने पर भी आकांक्षा इत्यादि चारों कारणों पर शब्द से संसर्ग बोध होने पर शाब्दज्ञान होता है । अतएव शब्दप्रमाण एक स्वतन्त्र प्रमाण है ।

शब्द प्रमाण विषयक धर्मराज अध्वरीन्द्र तथा नैयायिक मतों के विवेचन से स्पष्ट है कि परिभाषाकार नैयायिकों से साम्य रखते हुए भी अपना पृथक् चिंतन प्रदान करते हैं । प्रायः अद्वैतवेदान्ती प्रमाणमीमांसा में 'व्यवहारे भट्टनयः' का समर्थन करते हैं । परन्तु शब्द प्रमाण में कुमारिल भट्ट ने आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि का उल्लेख किया है । तात्पर्य को सर्वप्रथम जयन्त भट्ट (नवीं शताब्दी) ने वाक्यार्थ बोध मे प्रतिमान माना था । ग्रन्थकार ने भी जयन्त द्वारा प्रतिपादित चतुर्थ पद का पूर्णतः समर्थन किया । इसी तरह अद्वैतवेदान्त के प्रतिमानों का भी उपयुक्त

संदर्भ में खण्डन करते हैं । जैसे-'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ बोध में जहदजहत् लक्षणा को अस्वीकार किया है । इससे स्पष्ट है कि वेदान्तपरिभाषाकार किसी परम्परा का अन्ध अनुकरण न करके स्वविवेक से गतार्थ होते हैं ।

§।§ उपमान-प्रमाणः-

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द-प्रमाण का निरूपण करने के पश्चात् यथार्थ ज्ञान के साधनों में उपमान की गणना आती है । भासर्वज्ञ को छोड़कर अन्य सभी नैयायिकों ने उपमान को प्रमाण माना है । वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद तथा उनके अनुयायियों ने उपमान को स्वीकार नहीं किया अथवा अनुमान में ही इसे अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है, किन्तु नव्य-न्याय के उदय होने पर जब न्याय तथा वैशेषिक के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित किया जाने लगा तब से उस परम्परा में भी इस प्रमाण को माना जाने लगा है । इसके अतिरिक्त चार्वाक, जैन, बौद्ध तथा सांख्य को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में इसे यथार्थ ज्ञान के एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है ।

उपमान- प्रमा का व्यापक अनुशीलन न्याय, मीमांसा तथा वेदान्त ग्रन्थों में विद्यमान है । जिस प्रकार अनुमान-प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान को अनुमिति कहते हैं ठीक उसी प्रकार उपमान-प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान को उपमिति कहते हैं ।[81] न्यायसूत्रकार गौतम प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य के आधार पर साध्य का साधन करना अर्थात् किसी प्रसिद्ध वस्तु §गाय§ के सादृश्य से अप्रसिद्ध वस्तु §गवय§ के सादृश्य का मिलान कर उसे प्रकट करना उपमान कहलाता है ।[82] भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है कि ज्ञात वस्तु की सदृशता के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान करना उपमान है । संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध की प्रतीति उसका प्रयोजन है । §उपमानं सारूप्यज्ञानम्§ जैसे, मान लीजिए कि किसी मनुष्य को यह ज्ञान नहीं है कि 'गवय' क्या है । कोई कोई विश्वासी मनुष्य उससे कहता है कि गवय 'गाय' के ही आकार-प्रकार का एक

जंगली पशु है । अब जब कभी वह मनुष्य वन में गया और उस वाक्यार्थ को स्मरण करते हुए उसने एक ऐसे पशु को देखा जो कि गाय के सदृश था तब उसे यह निश्चय हो गया कि यही गवय है । इसी निश्चय का नाम उपमिति प्रमा है । यहाँ सादृश्य-ज्ञान या सारूप्य-ज्ञान का ठीक-ठीक अर्थ समझना प्रासंगिक होगा । किसी अंश में समानता हो जाने से ही सादृश्य या सारूप्य नहीं हो जाता । कौआ और हाथी में काले रंग की समानता होने पर भी हम दोनों को एक-दूसरे के सरूप या सदृश नहीं कह सकते । सारूप्य के लिए 'जाति' या 'सामान्य' की एकता आवश्यक है । जिन दो वस्तुओं में सादृश्य बतलाया जाता है उनमें एकजातीयता होनी चाहिए । इसीलिए वात्स्यायन ने सारूप्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है- सारूप्यं तु सामान्ययोग: । उदाहरण के लिए, कौए और कोयल में समान जातीयता होने के कारण उनमें सारूप्य सम्बन्ध माना जा सकता है । आचार्य विश्वनाथ ने सादृश्य ज्ञान के स्थान पर सादृश्य दर्शन को उपमिति का करण माना है । इनके मतानुसार सादृश्य दर्शन करण, अतिदेश वाक्यार्थ स्मरण अवान्तर व्यापार होता है, जिसके फलस्वरूप 'नीलगाय पशु को नीलगाय कहते हैं' यह ज्ञान उत्पन्न होता है।[83.] अन्नंभट्ट का कथन भी ऐसा ही है ।[84.]

न्याय दर्शन में यह उपमिति केवल सादृश्य के आधार पर ही प्रत्युत् वैधर्म्य के आधार पर भी हो जाती है । उदाहरणार्थ-'जलादि से विरुद्धधर्मवाली पृथ्वी' यह ज्ञान होने पर गन्धरहित पाषाण को देखकर उसे जल, तेज आदि द्रव्यों के धर्मों से रहित देखकर 'यह पृथ्वी है' यह ज्ञान उस व्यक्ति को प्राप्त हो जाता है । साधर्म्य और वैधर्म्य के अतिरिक्त असाधारण धर्म के द्वारा भी उपमिति उत्पन्न हो जाती है । उदाहरणार्थ- किसी व्यक्ति ने ऊँट नहीं देखा है । उससे कहा जाता है कि ऊँट की विशेषता यह है कि उसकी गर्दन लम्बी और टेढ़ी होती है, पूँछछोटी होती है, पीठ पर एक कूबड़ होता है, वह काँटे खाता है, इत्यादि । अब यदि इन विचित्रताओं के आधार पर वह व्यक्ति इस जानवर को देखकर पहचान जाता है कि यह ऊँट है, तो उसका यह ज्ञान-'धर्ममात्रोपमान' कहा जायेगा । संभवत: इसी

कारण उत्तरवर्ती नैयायिकों ने उपमान की परिभाषा में साधर्म्य-वैधर्म्य की अपेक्षा संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध का उल्लेख किया है ।वैसे वात्स्यायन ने भी इसकी चर्चा कर दी थी, किन्तु उन्होंने इसको 'समाख्यासम्बन्ध-प्रतिपत्ति' कहा था ।[85]

वेदान्ती भी उपमान में विश्वास रखते हैं । पर नैयायिक सम्मत उपमान विषयक स्वरूप से असहमत व्यक्त करते हैं । वेदान्तपरिभाषा के अनुसार सादृश्य प्रमा के करण को उपमान कहते हैं- "सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्" अमुक वस्तु अमुक वस्तु के सदृश है इस प्रकार से दो वस्तुओं की सदृशता या एक वस्तु में स्थित दूसरी वस्तु के सादृश्य का आकलन जिस अन्तःकरण वृत्ति से होता है उसे उपमान प्रमाण कहा गया है । मीमांसकों के अनुसार 'यथा गौ तथा गवयः' इस अतिदेश वाक्य को सुनने के बाद कोई व्यक्ति वन में जाकर गौ के सदृश पिण्ड को देखता हैतो उसे विदित होता है कि मेरी गाय इस पशु के सदृश है । यही ज्ञान उपमान का प्रमाण फल है । प्रभाकर और कुमारिल के दृष्टिकोण में यह अंतर है कि कुमारिल सादृश्य को गुण कहते हैं जबकि प्रभाकर उसको एक पृथक् पदार्थ मानते हैं ।[86] उदाहरणार्थ किसी ने गाय देखी है, परन्तु गवय नहीं देखा है । वह वन में सर्वप्रथम गवय को देखता है । वह गाय के सदृश देखने में लगती है । इससे वह समझ लेता है कि गाय गवय के सदृश है । इससे स्पष्ट हुआ कि पहले देखी हुई वस्तु के सदृश किसी वस्तु को देखकर समझते हैं स्मृत वस्तु प्रत्यक्ष वस्तु के सदृश है ।

ध्यातव्य है कि सादृश्य ज्ञान की कारणता तो न्याय के समान वेदान्ती तथा मीमांसक भी मानते हैं किन्तु जहाँ नैयायिक संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध ज्ञान को फल मानते हैं, वहाँ वेदान्तियों तथा मीमांसकों के मतानुसार 'गाय, गवय के सदृश है'- यह ज्ञान फल है । इससे स्पष्ट होता है कि नैयायिक उपमान को वस्तु बोधक न मानकर शक्ति ग्राहक मानते हैं, गवय पद की एक विशिष्ट पशु में शक्तिग्रह कराना ही उसका प्रयोजन है । वेदान्ती सादृश्य प्रमा को ही उपमिति कहते हैं । अर्थात् उपमानरूप सादृश्यज्ञान और उपमितिरूप सादृश्यप्रमा के मध्य अन्य कोई व्यापार

नहीं रहता । इस प्रकार न्याय तथा वेदान्त में सादृश्य ज्ञान को उपमान प्रमाण मानने के पक्ष में एकमत होते हुए भी उनके फल और व्यापार कल्पना के सम्बन्ध में मतभेद दृष्टिगोचर होता है । वेदान्ती सादृश्य पदार्थ के ग्रहण के लिए उपमान प्रमाण स्वीकार करते हैं जबकि नैयायिक शक्तिग्रह के लिए । न्याय तथा वेदान्त में उपमिति विषयक भिन्नता का कारण दोनों के प्रयोजनों में भेद है । नैयायिक शाब्द-ज्ञान के उपजीवक के रूप में उपमान को प्रामाण्य मानते हैं जिसमें कि शब्द का शक्ति-ग्रहण अथवा शब्द का अर्थ क्या है इसे समझना फल होता है । इसीलिए न्यायदर्शन में पदवाच्यत्वप्रकारिका प्रतीति उपमिति है । सादृश्य ज्ञान उसमें साधनमात्र है । वेदान्त का लक्ष्य है ब्रह्म की अद्वितीयतत्वता को सिद्ध करना, उसके लिए अपेक्षित है ब्रह्म से इतर सभी कुछ के मिथ्यात्व की सिद्धि,और मिथ्यात्व के लक्षण में सन्निविष्ट है- सत्, असत्, सदसत् आदि सभी कोटियों से विलक्षण होना । इस वैलक्षण्य की व्याख्या, सादृश्य-वैधर्म्य की व्याख्या और ज्ञान के बिना सम्भव नहीं, इसी उद्देश्य से सादृश्य-प्रमा-रूप उपमिति तथा उसका करण उपमान माना गया है ।

नैयायिकों की उपमिति प्रमा विषयक अवधारणा का समर्थन पाश्चात्य दार्शनिक एल०एस० स्टेब्बिंग ने भी किया है ।[87] उन्होंने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण दिया है जो न्यायशास्त्र के उपमान के ही समान है । जैसे, आप नहीं जानते कि सैक्सोफोन क्या है । आप किसी बाजा बजाने वाले से यह सुनते हैं कि सैक्सोफोन अंग्रेजी के 'यू' (U) अक्षर की शक्ल का एक वाद्ययंत्र है । इसके बाद जब किसी अवसर पर वस्तुत: यह वाद्ययंत्र देखते हैं और इसे पहचान जाते हैं कि यह 'सैक्सोफोन' है, तो इसका अर्थ है कि आप सैक्सोफोन शब्द की वस्तुवाचकता समझते हैं ।

पाश्चात्य विचारकों ने भी उपमान के समानान्तर सादृश्य 'एनॉलोजी' को स्वीकार किया है । इससे कतिपय विचारक उपमान को पाश्चात्य तर्कशास्त्र के सादृश्यानुमान से अभिन्न समझते हैं । यद्यपि दोनों में कुछ अंशों में समानता है । फिर भी दोनों कुल मिलाकर एक दूसरे से भिन्न हैं । नैयायिकों के अनुसार उपमान

से संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध का ज्ञान होता है, जबकि मीमांसकों के अनुसार उपमान से ज्ञात वस्तु की समानता के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान होता है ।

पाश्चात्य सादृश्यानुमान में हम दो वस्तुओं के बीच कुछ समानताओं का ज्ञान प्राप्त करके उनके बीच एक नयी समानता का अनुमान करते हैं । उदाहरणार्थ, पृथ्वी और मंगलग्रह की आबोहवा, बनावट आदि की समानता के आधार पर हम यह अनुमान करते हैं कि पृथ्वी पर यदि जीव बसते हैं तो मंगलग्रह पर भी जीव बसते होंगे ।

सादृश्यानुमान से उपमान की भिन्नता स्पष्ट है- पाश्चात्य सादृश्यानुमान में हम कुछ समानताओं के आधार एक नयी समानता का अनुमान करते हैं, किन्तु उपमान में हम समानताओं के आधार पर किसी वस्तु की वस्तुवाचकता का ज्ञान प्राप्त करते हैं । सादृश्यानुमान द्वारा जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे सम्भावित होते हैं, जबकि उपमान द्वारा जो ज्ञान होता है, वह यथार्थ होता है । सादृश्यानुमान का आधार केवल समानता है, जबकि उपमान का आधार समानता के अतिरिक्त असमानताओं या कुछ विशिष्ट विचित्रताओं के आधार पर भी वस्तु की वस्तुवाचकता का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । अतः उपमान को पाश्चात्य तर्कशास्त्र का सादृश्यानुमान समझ लेना एक भूल है ।

भारतीय दर्शन में उपमान के संदर्भ में अनेक विवाद है । कतिपय विचारक अन्य प्रमाणों में उपमान का अन्तर्भाव करके स्वतन्त्र प्रमाण मानना अस्वीकार करते हैं । सांख्य-दर्शन में प्रत्यक्ष में ही उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव किया है । उसके अनुसार गवय के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर उसमें गोसादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होता है । ठीक इसी प्रकार गो का स्मरण होने के पश्चात् गो में रहने वाला गवय के सादृश्य का ज्ञान (जिसे वेदान्त तथा मीमांसा में उपमिति कहा गया है) प्रत्यक्षरूप ही है ।[88] गवय में भासित होने वाला सादृश्य गो में भासित होने वाले सादृश्य

से भिन्न नहीं है । गवयनिष्ठ सादृश्य ही गोनिष्ठ है; क्योंकि किसी एक जाति का अन्य जाति में रहने वाले भूयोऽवयवसामान्ययोग ॥बहुत से अवयवों के साम्यरूप सम्बन्ध॥ को ही सादृश्य कहते हैं । इस प्रकार के सादृश्य का गवय में जिस प्रकार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है, उसी प्रकार गो में भी उसका प्रत्यक्ष होना ही उचित है । इसी कारण सादृश्य प्रमाणान्तर नहीं है, उसका प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव हो जाता है । किन्तु, सांख्याचार्यों का यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि 'गोसदृश्येगवयः' इस ज्ञान में गवय में गो का सादृश्य भासित होता है अतः इस सादृश्य का धर्मी या अनुयोगी तो 'गवय' है तथा 'गो' प्रतियोगी है, किन्तु 'गवय सदृशी गौः' इस ज्ञान में गो धर्मी या अनुयोगी है तथा गवय प्रतियोगी । अतः प्रत्येक व्यक्ति में 'सादृश्य' पृथक्-पृथक् होता है । इसी कारण गवय प्रत्यक्ष में गवय के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है अतः तद्गत सादृश्य प्रत्यक्ष भासित होता है, किन्तु गो व्यक्ति के वहाँ पर उस समय समीप न होने से उसके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं होता, इसलिए गोनिष्ठसादृश्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता ।[89.] यही कारण है कि वेदान्त-परिभाषाकार ने उपमान को प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत नहीं माना है । अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न उपमान प्रमाण माना गया है ।

उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में करने वाले वैशेषिक मानते हैं कि मेरी गो इस गवय के समान है, इस गवय में रहने वाले सादृश्य का प्रतियोगी होने से जो जिसमें रहने वाले सादृश्य का प्रतियोगी होता है, वह उसके सदृश होता है- जैसे मैत्र निष्ठ सादृश्य का प्रतियोगी चैत्र मैत्र के सदृश है । परन्तु ऐसा अनुमान होना सम्भव नहीं; क्योंकि उस पर 'स्वरूपासिद्ध' दोष आता है । 'हेतु का पक्ष पर न रहना' स्वरूपासिद्ध दोष कहलाता है । जो हेतु अपने पक्ष पर रहता ही नहीं, वह वहाँ पर साध्य की सिद्धि कैसे कर सकेगा । अतः अनुमान में उपमान का अन्तर्भाव नहीं कर सकते; क्योंकि गो निरूपित सादृश्य रूप हेतु गवय में है न कि गो में ।

अतएव अनुमान में उपमान के अन्तर्भाव का खण्डन करते हुए गौतम कहते हैं कि अनुमान द्वारा ऐसा बोध नहीं होता कि जैसा धूम है वैसी अग्नि है, जब कि उपमान

में लिंग और लिंगी का व्याप्ति सम्बन्ध नहीं होता । इसलिए उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में करना असंगत है ।

मीमांसकों द्वारा उपमान की जो परिभाषा बताई गई है, उसके अनुसार उपमान का शब्द में अन्तर्भाव हो सकता है या नहीं । कतिपय चिंतक शब्द में उपमान का अन्तर्भाव करने के समर्थक हैं । उदाहरणार्थ-'गो सदृशो गवय:' ऐसा वाक्य सुनने पर पहले गवय में सादृश्य ज्ञान होता है, पुन: गो में सादृश्य ज्ञान होता है । ऐसा आशय असंगत है; क्योंकि जिसने 'गो सदृशो गवय:' ऐसा वाक्य नहीं सुना, उस व्यक्ति के सामने भी गवयपिण्ड के आने पर यह पिण्ड 'गो' के सदृश है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जिसे उपमान कहा जाता है तत्पश्चात् इसके समान मेरी गो है ऐसी उपमिति हो जाती है फिर आप इस प्रमाण को शब्द में अन्तर्भाव कैसे कर सकते हैं । अत: प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण से {सादृश्य प्रमा का करण सादृश्य ज्ञान रूप} उपमान प्रमाण पृथक् सिद्ध हुआ ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि उपमान में प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द के तत्त्व पाये जाते हैं, पर इसी कारण उपमान का इनमें अन्तर्भाव कर देना तर्कसंगत नहीं है । प्रत्यक्ष में भी तो संवेदना, कल्पना आदि के तत्त्व पाये जाते हैं । पर इस कारण प्रत्यक्ष का इन सबों में अन्तर्भाव नहीं हो जाता। उसी प्रकार अनुमान में भी प्रत्यक्ष और शब्द के तत्त्व पाये जाते हैं । पर अनुमान का भी इस कारण उनमें अन्तर्भाव नहीं किया जाता । अत: यह पूर्णत: झलकता है कि उपमान में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द इत्यादि के तत्त्व रहने पर भी यह उन सबों से पृथक् एक स्वतन्त्र प्रमाण है ।

उपमान को ज्ञान की प्राप्ति का एक पृथक् साधन माना जाय या नहीं, इस पर मतभेद होने पर भी उपमान की उपयोगिता को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता । उपमान व्यावहारिक जीवन में बहुत उपयोगी है । इसके द्वारा हमें ज्ञात होता है कि किसी नाम {संज्ञा} से किस वस्तु का बोध होता है । पारिभाषिक नामों की वस्तुवाचकता समझने में इससे विशेष सहायता मिलती है । वात्स्यायन ने

आयुर्वेदशास्त्र में उपमान के कई उदाहरण दिखलाये हैं । आयुर्वेदशास्त्र में पूर्वपरिचित वस्तुओं के सादृश्य के आधार पर ही कितनी औषधियों का वर्णन किया गया । इस प्रकार दवाओं के नाम और पूर्वपरिचित वस्तुओं से उनके सादृश्य को जानकर हम अनेक दवाओं की पहचान कर लेते हैं । इसी प्रकार अन्य विज्ञानों में उपमान की सहायता से बहुत से अदृष्ट पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है ।

उपमान-प्रमाण के निरूपण से ज्ञात होता है कि परिभाषाकार ने न्याय दर्शन के उपमान-प्रमा के स्वरूप से सहमत होते हुए भी उसके फल और व्यापार कल्पना के सम्बन्ध में भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं । परिभाषाकार सादृश्य पदार्थ के ग्रहण के लिए उपमान प्रमाण स्वीकार करते हैं, जबकि नैयायिक शक्तिग्रह के लिए । धर्मराज अध्वरीन्द्र उपमान कोस्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध करने के लिए सांख्य, वैशेषिक आदि मतों का खण्डन भी करते हैं ।

§V§ अर्थापत्ति-प्रमाण:-

आगम प्रमाण के निरूपण के पश्चात् अर्थापत्ति प्रमाण का निरूपण अपेक्षित है । अर्थापत्ति प्रमाण का वृहद् विवेचन मीमांसा दर्शन में किया गया है । 'व्यवहारे भाट्टनय:' को स्वीकार करते हुए वेदान्ती दार्शनिक मीमांसकों के अर्थापत्ति विषयक विवेचन का समर्थन करते हैं । नैयायिकों ने अर्थापत्ति का पृथक् प्रमाणत्व स्वीकार नहीं किया और उन्होंने 'व्यतिरेकी अनुमान' में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव कर दिया है । वेदान्तपरिभाषाकार अर्थापत्ति को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, मीमांसकों से अर्थापत्ति के निरूपण से सहमत होते हुए भी अपना पृथक् दृष्टिकोण रखते हैं । इसके अतिरिक्त नैयायिकों के विचारों का खण्डन करते हैं ।

अर्थापत्ति का शाब्दिक अर्थ है- §अर्थ=विषय, आपत्ति=कल्पना§ किसी विषय की कल्पना । अर्थापत्ति प्रमाण को तथा इससे उत्पन्न होने वाली प्रमा को भी अर्थापत्ति कहते हैं । जैसे प्रमाण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण जन्य प्रमा को भी प्रत्यक्ष कहते है ।

अनुमानादि में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वहाँ अनुमान प्रमाण जन्य प्रमा को अनुमिति, उपमान प्रमाण जन्य प्रमा को उपमिति एवं शब्द जन्य प्रमा को शाब्दी कहते हैं । यद्यपि प्रमा तथा प्रमाण दोनों में अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग होता है, फिर भी दोनों का अर्थ भिन्न-भिन्न है । जब हम प्रमा में अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसमें षष्ठी तत्पुरूष समास {अर्थस्य आपत्तिः} का आश्रय लेते हैं अर्थात् रात्रि भोजनरूप अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति समझते हैं । जब पुष्टत्व ज्ञान में अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग किया जायेगा तो बहुव्रीहि समास से 'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् यत्' अर्थापत्ति प्रमाण कहलाता है । इस प्रकार शब्द समान होने पर भी अर्थ में भेद होने के कारण प्रमा एवं प्रमाण में अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग तर्कसंगत है ।[90] इस अर्थापत्ति को ही शास्त्रीय ग्रन्थों में अन्यथानुपपत्ति भी कहा जाता है । किसी अन्य प्रकार से कार्य की उपपत्ति न हो सकने से जो कारण की कल्पना की जाती है, वह ज्ञान कार्य के ज्ञान से ही होता है । इस कल्पक ज्ञान को ही उपपाद्य कहते हैं । जिसके कारण उपपाद्य की उपपत्ति लगती है वह रात्रि भोजनादि का ज्ञान, उपपादक है । तस्मात् कार्यज्ञान के पश्चात् उसकी अन्य प्रकार से उपपत्ति न लग सकने के कारण उसके उचित कारण की कल्पना ही अर्थापत्ति है और उपपाद्य का ज्ञान उसका कारण होने से ही वह अर्थापत्ति प्रमाण है । दूसरे शब्दों में जब किसी प्रत्यक्ष विषय को समझने में कुछ विरोध मालूम पड़ता है तो हम उस विरोध की व्याख्या के लिए कोई आवश्यक कल्पना करते हैं । यद्यपि इस कल्पना का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता; किन्तु इसे स्वीकार किये बिना प्रत्यक्ष विषय का विरोध दूर नहीं हो सकता । इस प्रकार की आवश्यक कल्पना को ही अर्थापत्ति कहते हैं । उदाहरण के लिए-देवदत्त प्रतिदिन उपवास करता है, फिर भी वह दिन-दिन मोटा होता जाता है । अब हमें इस प्रत्यक्ष विषय यानी उपवास करके मोटा होने में स्पष्ट विरोध मालूम पड़ता है । इस विरोध की व्याख्या के लिए हम यह कल्पना करते हैं कि 'देवदत्त रात में खाता है।' यद्यपि हम देवदत्त को राम में खाते हुए नहीं देखते, किन्तु जब तक हम इसे मान नहीं लेते, देवदत्त के दिन के उपवास के साथ उसके मोटापे की संगति नहीं बैठती । अतः प्रत्यक्ष विरोध के निदान

के लिए हमें एक अदृश्य विषय की कल्पना करनी पड़ती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थापत्ति वह आवश्यक कल्पना है जिसके द्वारा किसी अन्यथा अव्याख्येय विषय की व्याख्या की जाती है । जिस विषय की व्याख्या करनी होती है उसे 'उपपाद्य' कहते हैं और जिसके द्वारा इसकी व्याख्या होती है उसे 'उपपादक' कहते हैं । जैसे, उक्त उदाहरण में दिन में उपवास करने वाले देवदत्त के मोटापे की व्याख्या करनी है । अतः यह उपपाद्य है । इसकी व्याख्या देवदत्त के रात में खाने की बात से होती है । अतः यह उपपादक है । अतएव वेदान्तपरिभाषा के अनुसार उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक का ज्ञान अर्थापत्ति कहलाता है ।[91] उपपाद्य का ज्ञान करण है और उपपादक का ज्ञान फल । जिसके बिना जो अनुपपन्न हो, वह उपपाद्य कहलाता है, और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति हो, वह उपपादक कहलाता है । जैसे, रात्रि भोजन के अभाव में दिन में न खाने वाले व्यक्ति (देवदत्त) का पुष्टत्व कभी भी सम्भव नहीं है । अतः रात्रि भोजन दिवाऽभुंजान देवदत्त के पुष्टत्व का उपपादक है । इस उपपादक के ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमा रूप फल कहा है ।

अर्थापत्ति प्रमा दो प्रकार की होती है- दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति । जब अर्थापत्ति का विषय दृष्ट होता है, तब उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं । दूर से किसी वस्तु को चाँदी समझकर यदि हम कहें कि यह रजत है, किन्तु निकट जाकर यह कहें कि यह चाँदी नहीं है तो दोनों कथनों में से एक असत्य होगा । दोनों एक ही समय पर सत्य नहीं हो सकते । अतः दोनों प्रकार के कथनों में अनुपपत्ति का समाधान इस कल्पना के द्वारा होगा कि दूर से जो देखा गया था, वह यथार्थतः रजत नहीं थी; क्योंकि यदि वह यथार्थ होती तो-- वह समक्ष होने पर भी दिखाई देती । 'यह रजत नहीं है' ऐसे निषेधात्मक ज्ञान को न उत्पन्न करती । पहले रजत की प्रतीति तथा अब रजत का निषेध अनुपपन्न हैं, यदि वह रजत सत्य से भिन्न न हो अथवा उस रजत में सत्यत्व का अत्यन्ताभाव न हो । इस प्रकार की प्रतीति तथा निषेध उसके मिथ्यात्व के कल्पक बनते हैं या रजत के मिथ्यात्व की कल्पना में पर्यवसित होते हैं, अन्यथा (मिथ्यात्व के बिना) अनुपपन्न होने से । यह

मिथ्यात्व कल्पना निषेध के कारण होती है और रजत तथा शुक्ति दोनों विषय दृष्ट हैं । अतः यह दृष्टार्थापत्ति है । किन्तु भाट्ट मीमांसकों के मतानुसार जब दो परस्पर विरोधी ज्ञानों में से एक सामान्य हो और दूसरा विशिष्ट और उनमें विरोध हो, तो तब विरोध के परिहार के लिए दृष्टार्थापत्ति का सहारा लिया जाता है ।

दृष्टार्थापत्ति के विवेचन के पश्चात् अर्थापत्ति का द्वितीय रूप श्रुतार्थापत्ति का निरूपण अपेक्षित है । मीमांसकों में कुमारिल भट्ट ने ही श्रुतार्थापत्ति प्रमा का समर्थन किया है । जबकि प्रभाकर मिश्र मानते हैं कि दृष्ट तथा श्रुत एक प्रमाण के दो नामान्तर हैं । अतः श्रुतार्थापत्ति एक पृथक भेद नहीं है ।[92] प्रभाकर मानते हैं कि श्रुतार्थापत्ति के द्वारा भाट्टमीमांसक जो कार्य करना चाहते हैं वह तो शब्द अभिधा शक्ति के व्यापार से ही सम्पन्न हो जाता है । अनेक उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें कतिपय शब्द अनावश्यक होते हैं जैसे 'उभयं हविः अर्तिम श्रच्छेत्' इस वाक्य में उभय शब्द को छोड़ देने से हवि के विकल्पों का क्षेत्र व्यापक हो जाता है । अतः अभिधा को जितने क्षेत्र में व्यापक बनाने की आवश्यकता होगी उतने पर अभिधा से ही कार्य हो जायेगा उसके लिए श्रुतार्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता अनुपयुक्त है । किन्तु अद्वैतवेदान्त का प्रमाण-प्रमेय विभाग आदि समस्त व्यावहारिक पक्ष भाट्टमीमांसकों का अनुसरण करता है । अतः धर्मराज अध्वरीन्द्र ने श्रुतार्थापत्ति (शाब्द बोध में अनुपपत्ति) को अर्थापत्ति का एक अन्य प्रकार तो स्वीकार ही किया है । इसके अतिरिक्त श्रुतार्थापत्ति के दो भेदों का भी निरूपण किया है- अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति ।[93]

जब सुने गये वाक्य के मुख्य अर्थ की अनुपपत्ति के अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है तब श्रुतार्थापत्ति होती है । वेदान्त में अर्थापत्ति को केवल लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं माना गया है, अपितु प्रपंच मिथ्यात्व रूप अलौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी स्वीकार किया गया है । जैसे -'छान्दोग्योपनिषद्' में

कहा गया है- आत्मवेत्ता पुरुष समस्त शोक को पार कर जाता है । यहाँ 'शोक' शब्द का वाच्य है समस्त बन्धन और वह ज्ञान द्वारा निवर्त्य है । यह ज्ञान निवर्त्य होना रूप अर्थ तब तक उत्पन्न नहीं होता जब तक समस्त प्रपंच (बन्ध) को मिथ्या न माना जाय, क्योंकि किसी वस्तु की निवृत्ति उसके ज्ञान से नहीं हुआ करती । हमें पुस्तक का ज्ञान होने पर वह पुस्तक नष्ट हो जाय- ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता । ज्ञान ज्ञापक हेतु होता है- कारक हेतु नहीं अर्थात् तत्त्वज्ञान (आत्मज्ञान) केवल वास्तविकता को बतलाता है, किसी वस्तु में अन्यथा भाव नहीं लाता । अतः शोक सन्तरण फल है और आत्मज्ञान उसके साधन होने से करण है । इसलिए इस श्रुतार्थ की उपपत्ति करनी होती है, क्योंकि श्रुति समस्त बन्ध को ज्ञाननिवर्त्य कहती है, इस वाक्यार्थ की उपपत्ति तभी हो सकती है यदि बन्ध अज्ञानमूलक व मिथ्या हो । यही श्रुतार्थापत्ति है । इस विधि से आत्मा के दुःखत्वादि को मिथ्या सिद्ध करना ही अर्थापत्ति-प्रमाण का उपयोग है ।

उक्त श्रुतार्थापत्ति वैदिक शब्द द्वारा प्राप्त ज्ञान की व्याख्या के लिए की गयी है । इसी प्रकार साधारण वाक्यों को सुनकर उनमें संगति लाने के लिए जब हम कुछ शब्दों को जोड़ देते हैं अथवा वाक्य के शाब्दिक अर्थ (अभिधेयार्थ) में असंगति पाकर जब हम लाक्षणिक अर्थ की कल्पना करते हैं तो उन्हें भी श्रुतार्थापत्ति का ही उदाहरण समझना चाहिए । जैसे 'देवदत्त जीवित है, किन्तु घर में नहीं है' (जीवी देवदत्तो गृहे न) इस वाक्य के सुनने पर जो पुरुष घर में नहीं है और घर के बाहर भी नहीं है उसका जीवित रहना सम्भव नहीं । इसलिए ऐसी कल्पना करनी पड़ती है कि वह जीवित होते हुए जब घर में नहीं है तब उसे बाहर ही होना चाहिए । क्योंकि देवदत्त का बहिःसत्त्व शाब्दी प्रमा तो है नहीं, चक्षु से उसका प्रत्यक्ष होता नहीं, व्यतिरेक अनुमान वेदान्तपरिभाषा में अस्वीकृत है । अतः श्रूयमाण वाक्य के स्वार्थ की अन्यथा अनुपपत्ति से अर्थान्तर की कल्पना की जा रही है । इसलिए देवदत्त का बहिःसत्वज्ञान श्रुतार्थापत्ति प्रमा रूप है ।

अब वेदान्तपरिभाषाकार द्वारा निरूपित श्रुतार्थापत्ति के भेदों-अभिधानानुपपत्ति तथा अभिहितानुपपत्ति- का विवेचन अपेक्षित है ।

अभिधानानुपपत्ति- अभिधान शब्द का अर्थ है- तात्पर्य । वक्ता ने जिस तात्पर्य से शब्दोच्चारण किया हो, उसी तात्पर्यार्थ की अनुपपत्ति होना ही अभिधानानुपपत्ति है । जब हम वाक्य का एक अंश सुन लेते हैं, किन्तु उसकी अर्थयोजना (अन्वय) पूरी नहीं पड़ती, तब उस अंश के साथ अन्वित होने योग्य किसी अन्य पद या वाक्यांश की कल्पना करते है । जैसे, 'किवाड़ को' इतना सुनने पर उसके अर्थ की उपपत्ति के लिए स्वयं ही 'बन्द करो या 'खोल दो' (प्रसंगानुसार) इतना जोड़ लेते हैं । वाक्य में क्रियावाचक पदों को कारकों की आकांक्षा रहती है और कारकों को क्रिया की अपेक्षा रहती है । शाब्दबोध में आकांक्षा की नियम कारणता के उसके केवल क्रियार्थक या कारकार्थक पद विवक्षित अर्थ को नहीं दिखा सकते । किसी स्थान पर ऐसे पद श्रुत न रहने पर वक्ता के तात्पर्य विषयीभूत अर्थ की उपपत्ति के लिए उन अपेक्षित पदों की कल्पना करके अन्वयबोध कर लेना होता है । जैसे वक्ता के 'द्वारं' अंश सुनकर श्रोता को 'पिधेहि' (बन्द करो) इस शब्द की कल्पना करनी पड़ती है । यह अध्याहार- रूपा कल्पना अभिधानानुपपत्ति रूपा अर्थापत्ति ही है ।[94]

श्रुतार्थापत्ति का अन्य प्रकार अभिहितानुपपत्ति है । जहाँ पर वाक्य से ज्ञात हुआ अर्थ अनुपपन्न (प्रमाणान्तरविरुद्ध) है, यह ज्ञात होने पर वाक्य अन्य अर्थ की कल्पना कराता है, वहाँ पर अभिहितानुपपत्ति संज्ञक अर्थापत्ति होती है । जैसे- 'स्वर्ग चाहने वाला पुरूष ज्योतिष्टोम याग करे' इस वाक्य से याग स्वर्ग का साधन है, यह अर्थ निकलता है, किन्तु यह श्रुत्यर्थ ठीक नहीं बैठता, क्योंकि याग तो क्षणिक क्रिया रूप है । उसके समाप्त होते ही तो यजमान को स्वर्ग प्राप्त नहीं होता । कारण के नष्ट होने पर कार्य कैसे होगा ? इस कारण श्रुति से बताया हुआ अर्थ(याग, स्वर्ग का साधन है) अनुपपन्न होता है । तब उसकी उपपत्ति के लिए 'अपूर्व' नामक पदार्थ की कल्पना की जाती है । यद्यपि याग विनाशी है तथापि वह

अपने स्थितिक्षण में ही स्वर्ग के साधनभूत एक विलक्षण अपूर्व (या अदृष्ट) को उत्पन्न करता है, तब नष्ट होता है । वह 'अपूर्व' याग और स्वर्ग का मध्यवर्ती व्यापार है । इस व्यापार से युक्त याग से कालान्तर में स्वर्ग रूप फल होता है, इससे 'याग स्वर्ग का साधन है' इस श्रुत्यर्थ की अनुपपत्ति नहीं होती । इस प्रकार पुरूष के स्वर्गगामित्व की उपपत्ति लगाने के लिए 'आत्मा देह से भिन्न है' ऐसी कल्पना भी अभिहितानुपपत्ति है । ध्यातव्य है कि वेदान्तपरिभाषाकार के अनुसार यहाँ अन्वय व्याप्ति सम्भव नहीं है और व्यतिरेकी अनुमान को वेदान्त में स्वीकार नहीं किया जाता । अतः अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता ।[95]

षड्प्रमाणों में पंचम प्रमा अर्थापत्ति का विवेचन प्रभाकर के अतिरिक्त मीमांसक तथा वेदान्तियों में विशेषतः धर्मराज अध्वरीन्द्र के अनुसार किया गया । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि धर्मराज 'व्यवहारे भाट्टनयः' का अनुकरण करते हुए अपनी मौलिकता भी प्रतिपादित करने में सफल हुए हैं । जैसे धर्मराज दृष्टार्थापत्ति में अनुपपन्नता का कारण नहीं बताते जबकि कुमारिल भट्ट के अनुसार दो तथ्यों में पारस्परिक विरोध ही अनुपपत्ति का कारण है । श्रुतार्थापत्ति के संदर्भ में कुमारिल मानते हैं कि इसमें शब्द या वाक्य की कल्पना करनी पड़ती है जबकि धर्मराज अध्वरीन्द्र के अनुसार इसमें कभी शब्द की और कभी तथ्य की कल्पना करनी होती है । जैसे 'किवाड़ को' इतना सुनकर श्रोता को पिधेहि (बन्द करो) इस शब्द की कल्पना करनी पड़ती है और 'पुष्ट देवदत्त दिन में नहीं खाता' इस वाक्य को सुनकर श्रोता को देवदत्त के रात्रिभोजनपरक तथ्य की कल्पना करनी पड़ती है । यही कुमारिल तथा धर्मराज में विचारगत समता तथा विषमता के अतिरिक्त वेदान्तपरिभाषाकार की अपनी विशेषता है ।

यद्यपि प्रस्तुत विवेचन वेदान्तपरिभाषा तथा न्याय दर्शन के संदर्भ में ही है । न्याय ने अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार न करके उसे व्यतिरेक अनुमान में अन्तर्भूत मान लिया है । न्याय के समान वैशेषिक, सांख्य, योग प्रभृति दर्शनों में

भी अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में माना गया है । अतएव धर्मराज ने अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हुए नैयायिकों की धारणा का खण्डन किया है और व्यतिरेकी अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में निरूपित किया है । अतः इस संदर्भ में जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं उनका उल्लेख करना प्रासंगिक होगा ।

नैयायिक मानते हैं कि प्रमाण तो चार ही हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है और अनुमान में उसके अन्तर्भाव की प्रक्रिया इस प्रकार हो सकती है-'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'- देवदत्त स्वस्थ है, किन्तु वह दिन में भोजन नहीं करता और बिना भोजन के स्वस्थ होना असंगत लगता है, अतएव देवदत्त रात भोजन करता होगा- यह अध्याहार अर्थापत्ति से किया जाता है । वस्तुतः यहाँ पर रात्रि-भोजन का अनुमान ही किया जाता है । जैसे- ॥1॥ देवदत्त रात में भोजन करता है, क्योंकि वह दिन में भोजन बिना किये भी स्वस्थ है ।॥2॥ व्यतिरेक से, घट के समान जहाँ-जहाँ रात्रि-भोजन का अभाव रहता है, वहाँ दिन में भोजन न करने पर स्वास्थत्व का भी अभाव रहता है, जैसे, घट दिन में या रात में कभी भी भोजन नहीं करता, तो वह स्वस्थ होता भी नहीं दिखाई देता । ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति से ही अर्थापत्ति चरितार्थ हो जाती है। इस कारण अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानना अनावश्यक है ।

वेदान्तपरिभाषाकार कहते हैं कि अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । अन्वयव्याप्ति ज्ञान तो अर्थापत्ति स्थल पर सम्भव नहीं, क्योंकि साध्यसाधन साहचर्य को अन्वय व्याप्ति कहते है- यथा-'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' ऐसे ही जहाँ-जहाँ दिवा भुञ्जान का पुष्टत्व है वहाँ-वहाँ भोजन है, ऐसा व्याप्ति ज्ञान तो असंगत है । अतः अन्वय व्याप्ति ज्ञान के अभाव होने से अन्वयी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं हो सकता । व्यतिरेकी अनुमान में अन्तर्भाव अर्थापत्ति का होना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि हमारे दृष्टिकोण से व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान अनुमिति में कारण ही नहीं बनता । इसीकारण अर्थापत्ति स्थल में 'मैं अनुमान करता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता, अपितु इससे मैं इसकी कल्पना करता हूँ ऐसा ही व्यवहार

होता है । इस कारण व्यतिरेकी अनुमान में भी अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि अनुमान का आधार व्याप्ति है और अर्थापत्ति का आधार है अनुपपत्ति । अतएव अर्थापत्ति को अनुमान से भिन्न तथा स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए ।

धर्मराज ने उक्त दो कारणों से अर्थापत्ति को अन्तर्भूत नहीं माना है । इसके अतिरिक्त अर्थापत्ति का पृथक् प्रमाणत्व अनुभव के आधार पर भी सिद्ध किया है । साथ ही नैयायिकों ने जिसे व्यतिरेकी अनुमान बतलाया है परिभाषाकार धर्मराज अध्वरीन्द्र ने उसका अन्तर्भाव अर्थापत्ति में सिद्ध किया है ।

अर्थापत्ति स्थल पर सर्वत्र 'यह इसके बिना अनुपपन्न है ऐसा ज्ञान करण बनता है, तो ऐसा ज्ञान क्या व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान रूप ही है या उससे कुछ भिन्न है ? धर्मराज अध्वरीन्द्र कहते हैं- अनुपपन्नता का आशय है- अपने अभाव का व्यापक जो अभाव उसका प्रतियोगित्व ही अनुपपत्ति है । जैसे जहाँ भोजन का अभाव रहता है, वहाँ पुष्टत्व का भी अभाव रहता है; क्योंकि भोजन नहीं और पुष्टत्व हो- यह कभी संभव नहीं । इसलिए पुष्टि का अभाव भोजन के अभाव का व्यापक है । इसी प्रकार जहाँ रात्रि भोजन का अभाव हो वहाँ दिन में भोजन न करने वाले पुरूष के पुष्टत्व का भी अभाव रहता है । दिन में न खाने वाले पुरूष की पुष्ट का अभाव रात्रि-भोजन का व्यापक है । ऐसे व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व 'पुष्टत्व' में होना ही उसकी (पुष्टत्व) की अनुपपत्ति है । यही उपपाद्यज्ञान है । देवदत्त में वैसा पुष्टत्वाभाव नहीं है । किन्तु पुष्टत्वाभाव का अभाव है अर्थात् वह पुष्ट है । इस कारण देवदत्त में रात्रि भोजन का अभाव होना सम्भव नहीं है । इसलिए पुष्टत्व, रात्रिभोजन का उपपाद्य है अर्थात् रात्रिभोजनाभाव का व्यापक जो पुष्टत्वाभाव उसका प्रतियोगी पुष्टत्व है, इसी ज्ञान को अनुपपत्ति ज्ञान कहते हैं । अतएव व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान में अर्थापत्ति प्रमा का ही करणत्व है । अनुमिति का नहीं है;क्योंकि कल्पयामि ऐसा अनुव्यवसाय होता है, न कि अनुमिनोमि । अतः अर्थापत्ति पृथक्

प्रमाण है, यह सिद्ध होने पर दूसरा व्यतिरेकी अनुमान मानने की आवश्यकता नहीं रहती ।

पुन: पृथ्वी में इतरभेद का ज्ञान 'गन्धत्व' उससे भिन्न पदार्थों (जलादि) में ही हो सकता है, पृथ्वी में नहीं । यही ज्ञान करण है; क्योंकि पृथ्वी से भिन्न जलादि में कहीं भी गन्ध नहीं है । अत: पृथ्वी का गन्धत्व उसमें इतरभेद के बिना अनुपपन्न हो रहा है । इसी अनुपपत्ति से पृथ्वी में इतरभेद की कल्पना हो जायेगी । यहाँ गन्धत्व उपपाद्य है और इतरभेद उपपादक है । उपपाद्य के ज्ञान को करण तथा उपपादक के ज्ञान को फल कहा गया है । अत: नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित पृथ्वी में इतरभेदानुमान रूप केवल व्यतिरेकी का अर्थापत्ति में अन्तर्भाव हो जाता है, फिर व्यतिरेकी अनुमान मानना अनुपयुक्त है । किन्तु नैयायिक उपर्युक्त तर्कों के आधार पर अर्थापत्ति में व्यतिरेकी अनुमान के अन्तर्भाव को स्वीकार नहीं करते ।

अर्थापत्ति का स्वरूप पाश्चात्य तर्कशास्त्र की पूर्वकल्पना (प्राक्कल्पना) से मिलता-जुलता है । किसी विषय की व्याख्या के लिए पाश्चात्य तर्कशास्त्र में जिस प्रकार प्राक्कल्पना का सहारा लिया जाता है, लगभग वैसे ही किसी विरोधपूर्ण विषय की व्याख्या के लिए अर्थापत्ति का सहारा लिया जाता है । फिर भी अर्थापत्ति और पाश्चात्य तर्कशास्त्र की प्राक्कल्पना में स्पष्ट अंतर है ।

(1) अर्थापत्ति का प्रयोग दो तथ्यों की पारस्परिक अनुपपन्नता या विरोध के समाधान के लिए किया जाता है, जबकि जिन तथ्यों के समाधान के लिए प्राक्कल्पना की जाती है, उसमें अनुपपन्नता या विरोध होना अनिवार्य नहीं है ।

(2) अर्थापत्ति में हममें पूर्ण निश्चितता का भाव रहता है, किन्तु प्राक्कल्पना में निश्चितता का भाव नहीं रहता । अर्थापत्ति द्वारा जो कल्पना की जाती है उसे विरोधपूर्ण घटना की व्याख्या का एकमात्र आधार माना जाता है । अत: इसमें निश्चितता रहती है । किन्तु प्राक्कल्पना का जब तक प्रमाणीकरण नहीं होता तब तक उसे निश्चित नहीं माना जा सकता ।

मीमांसकों तथा अद्वैतवेदान्तियों के मतानुसार अर्थापत्ति में हमें ऐसे तथ्य का ज्ञान होता है जिसका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से नहीं हो सकता । मीमांसक लोग इसका उपयोग वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करने तथा अनुच्चरित शब्द या अर्थों की कल्पना करके उनका अर्थ समझने के लिए भी करते हैं । मीमांसक मृत्यु के अनन्तर आत्मा की अमरता में विश्वास भी अर्थापत्ति के आधार पर ही करते हैं । अद्वैत वेदान्तियों का माया का सिद्धान्त भी बहुत कुछ अर्थापत्ति पर ही आधारित है । किन्तु नैयायिक मानते हैं कि मीमांसक तथा अद्वैतवेदान्ती अर्थापत्ति की जो उपयोगिता बताते हैं वह अनुमान द्वारा सम्पन्न हो सकता है । परन्तु मीमांसक बतलाते हैं कि अनुमान की प्रक्रिया अनुपपन्नता पर आधारित नहीं है, जबकि अर्थापत्ति का मुख्य आधार ही अनुपपन्नता है । अतएव मीमांसक तथा अद्वैतवेदान्ती एक पृथक् प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति को उपयोगी मानते हैं ।

यद्यपि वेदान्तपरिभाषाकार ने अर्थापत्ति के निरूपण में व्यवहारे भट्टनयः को प्रतिमान माना । परन्तु अपनी प्रखर गवेषणात्मक शक्ति से श्रुतार्थापत्ति को अन्य प्रकार से विभक्त किया । जिसे अभिधानानुपपत्ति तथा अभिहितानुपपत्ति कहा है । न्याय दर्शन द्वारा प्रतिपादित व्यतिरेकी अनुमान को अर्थापत्ति नामक स्वतन्त्र प्रमाण में अन्तर्भूत बताया , क्योंकि व्यतिरकी व्याप्तिज्ञान अनुमिति में कारण नहीं बनता । ग्रन्थकार ने न्याय के इस अभिमत का खण्डन किया है कि अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण न मानकर अनुमान प्रमाण में अन्तर्भूत मान लेना चाहिए, क्योंकि अनुमान का आधार व्याप्ति ज्ञान है तथा अर्थापत्ति का आधार है अनुपपत्ति ।

(vi) अनुपलब्धि-प्रमाण:

अब तक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति पाँच प्रमाणों का निरूपण किया गया । ये पाँच प्रमाण भाव पदार्थ के ग्राहक हैं, अभाव के नहीं । अभाव का प्रमेयत्व अ[illegible]नीय है, क्योंकि 'भूतल पर घट नहीं है', 'यह अश्व गो नहीं'

– इस प्रकार की प्रतीतियाँ सभी को होती है । यही कारण है कि भाट्ट मीमांसकों तथा वेदान्तियों ने अभाव के ग्रहणार्थ 'अनुपलब्धि' के पृथक् प्रमाणत्व को स्वीकार किया है, जिससे दोनों ही मतों में षट् प्रमाणों की सिद्धि होती है ।

वस्तुतः न्यायदर्शन में प्रमाणों की संख्या चार– प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान– ही मानी गई है, लेकिन न्यायशास्त्रीय ग्रन्थों में इस समस्या पर भी पर्याप्त विचार–विमर्श किया गया है कि मीमांसकों तथा वेदान्तियों द्वारा प्रतिपादित अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में कैसे हो जाता है ?

वेदान्तपरिभाषाकार ने 'व्यवहारे भाट्टनयः' का अनुकरण करते हुए न्यायदर्शन के इस अभिमत का खण्डन किया है कि अनुपलब्धि का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में होता है । साथ ही धर्मराज अध्वरीन्द्र ने किसी स्थान में घट का या परमाणुओं के न होने का ज्ञान कराने वाले इस विशिष्ट प्रमाण का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है ।

अभाव के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों में पर्याप्त मतभेद है । भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैतवेदान्ती अभाव को अधिष्ठान से भिन्न एक पृथक् पदार्थ मानते हैं । अभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से बतलाते हैं । प्रभाकर मीमांसक अधिकरण से अतिरिक्त अभाव को नहीं मानते । उनके मत में एक वस्तु का अभाव दूसरी वस्तु के भाव से पृथक् नहीं । अर्थात् यदि घट का अभाव गृह में हो तो वह गृहरूप ही है । अतः अनुपलब्धि नामक प्रमाणान्तर मानने की आवश्यकता ही नहीं है । सांख्य दर्शन में भी अभाव को अधिकरणरूप ही माना गया है । अतएव केवल अधिष्ठान का दिखना ही आधेय के अभाव का ज्ञान है, और वह प्रत्यक्षात्मक है । वैशेषिकों के अनुसार अभाव एक पदार्थ है, किन्तु उसका ज्ञान अनुमान से होता है । बौद्धों के अनुसार अभाव कल्पना मात्र है और उसका ज्ञान अनुमान से हो जाता है । नैयायिकों के अनुसार अभाव एक पृथक् पदार्थ है । अभाव अपने आधार में स्वरूप सम्बन्ध से रहता है । स्वरूप सम्बन्ध से रहने का अर्थ है कि घटाभाव भूतल का

विशेषण है । भूतल के इन्द्रिय से संयुक्त होने के कारण तथा 'अभाव' के विशेषण होने के कारण भूतल का नेत्रेन्द्रिय के साथ संयुक्त विशेषणता नामक सन्निकर्ष हुआ । इस प्रकार, न्याय मत में अभाव पदार्थ का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से ही माना गया है, जिसमें 'संयुक्तविशेषणता' सन्निकर्ष माध्यम बनता है । यह विशेषणता प्रतियोगी के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है । वेदान्तपरिभाषा में अभाव के स्वरूप पर पृथक् रूप से प्रकाश नहीं डाला गया है । वेदान्त-सिद्धान्त में उपर्युक्त भाट्ट मत ही स्वीकृत है । §व्यवहारेभट्टनय:§

अभाव के स्वरूप का विवेचन किया गया । अब अनुपलब्धि की परिभाषा पर प्रकाश डालना अपेक्षित है । भाष्यकर्त्ता शबरस्वामी का कथन है कि अभाव प्रमाण वहाँ होता है जहाँ प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों के द्वारा बोध्य वस्तु का अभाव हो । इन्द्रिय के सन्निकर्ष में जो वस्तु न आये उस वस्तु के विषय में 'यह नहीं है' इत्याकारक ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाणों से होता है ।[96.] कुमारिल ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है वस्तु की सत्ता के अबोधनार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जहाँ वस्तु रूप का ज्ञान नहीं होता वहाँ अभाव का प्रमाणता सिद्ध होती है ।[97.] अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा जब किसी वस्तु के अस्तित्व की सत्ता नहीं होती है तब अभाव प्रमाण के द्वारा वस्तु के न होने का ज्ञान होता है । यह ज्ञान जिस साधन से होता है उसे ही अनुपलब्धि प्रमाण §अभाव प्रमाण§ कहते हैं । इसी अनुपलब्धि प्रमाण को वेदान्तपरिभाषाकार ने और भी स्पष्ट किया है । उनके अनुसार ज्ञान रूप करण से अजन्य जो अभाव का अनुभव हैं, उसके असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं ।[98.] अनुमिति प्रमा में व्याप्तिज्ञान, उपमिति प्रमा में उपपाद्यज्ञान करण होता है परन्तु अभाव प्रमा ज्ञानकरण से अनुत्पन्न है । अभाव का अनुभव प्रत्यक्षज्ञान से भी नहीं होता है, इसीलिए इसको ज्ञानकरणाजन्य माना गया है । इसी ज्ञानकरणाजन्य अभाव प्रमा के अनुभव में असाधारण कारण अनुपलब्धि प्रमाण है ।

अनुपलब्धि के उक्त लक्षण में प्रयुक्त 'ज्ञानकरणाजन्य', 'अभाव', 'अनुभव' तथा 'असाधारण कारण'- इन चारों का प्रयोजन भी निर्दिष्ट है । यदि अनुपलब्धि

प्रमाण का लक्षण 'अभावानुभव असाधारण कारण' किया जाय तथा 'ज्ञानकरणाजन्य' विशेषण न दिया जाय तो अतीन्द्रिय अभाव प्रमा के कारण अनुमान में उसकी अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि अतीन्द्रिय वस्तु के अभाव का अनुभव अनुमान से होता है ।[99] अतीन्द्रिय अभाव के ज्ञान में अनुमान प्रमाण के कारण होने का उदाहरण प्रस्तुत है- किसी भी व्यक्ति को दुःखी देखकर यह अनुमान किया जाता है कि 'यह धर्माभाववान् है', क्योंकि वह दुःखी है । यहाँ पर उसके धर्माभाववान् का प्रत्यक्ष तो होता नहीं है, क्योंकि धर्मादि पदार्थों के अतीन्द्रिय होने से उनका अभाव भी अतीन्द्रिय ही होता है । यही अतीन्द्रियविषयक अनुमिति है । उक्त अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण में ज्ञानकरणाजन्य विशेषण न देने पर अतीन्द्रिय वस्तु-धर्मादि के अभावानुभव के असाधारण कारण अनुमान में अतिव्याप्ति होगी । इसी के वारणार्थ 'ज्ञानकरणाजन्य' विशेषण दिया गया है, क्योंकि धर्मादि अतीन्द्रिय वस्तु के अभावानुभव व्याप्तिज्ञानकरण से जन्य है, अनुत्पन्न नहीं ।

अनुपलब्धि के उक्त लक्षण में 'अभाव' पद को सम्मिलित न करने पर भाव पदार्थ के अनुभव के नेत्रादि में अतिव्याप्ति हो जायेगी,[100] क्योंकि भाव पदार्थों के अनुभव का असाधारण कारण चक्षुरादि ही है और उससे होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । प्रत्यक्ष ज्ञान में 'ज्ञान' करण नहीं होता है, क्योंकि वह तो साक्षात्, अपरोक्ष ज्ञान है (ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्), जबकि अनुमानादि प्रमाणों में व्याप्तिज्ञानादि-करण होते हैं । यदि अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण 'ज्ञानकरणाजन्य अनुभवासाधारणकारण' केवल इतना ही किया जाय तो प्रत्यक्ष प्रमाण में उसकी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि घटादि भाव पदार्थ का अनुभव ज्ञानकरण से अजन्य है जिसका असाधारण कारण नेत्रादि प्रमाण है ।

अभाव विशेषण देने पर अतिव्याप्ति नहीं हो पाती, क्योंकि घटादि का अनुभव ज्ञानरूप करण से अजन्य होते हुए भी भाव का अनुभव है, अभाव का नहीं । यही कारण है कि 'अभाव' विशेषण देने पर ज्ञानकरणाजन्य अभाव अनुभव के असाधारण

कारण अनुपलब्धि को नेत्रादि में अतिव्याप्ति नहीं होती है ।

यदि लक्षण में असाधारण पद न दिया जाय तो अदृष्टादि साधारण कारण में अतिव्याप्ति होने लगेगी, क्योंकि देश, काल, ईश्वरेच्छा, अदृष्टादि भाव तथा अभाव समस्त पदार्थों के साधारण कारण होते हैं । अतः अदृष्टादि साधारण कारणों में अतिव्याप्ति के वारणार्थ ही 'असाधारण' पद दिया गया है । अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण में 'अनुभव' पद के सन्निविष्ट होने का भी प्रयोजन दर्शाया गया है । ज्ञान के दो प्रकार हैं- अनुभव तथा स्मृति । स्मृति का असाधारण कारण संस्कार है । यह स्मृति घट की भी हो सकती है तथा घटाभाव की भी । घटाभाव के अनुभवजन्य संस्कार से घटाभाव की स्मृति होती है । घटाभाव की यह स्मृति ज्ञानकरणाजन्य हैं, क्योंकि इसकी स्मृति संस्कार से होती है । अतः संस्कार से होने वाली घटाभाव की यह स्मृति ज्ञानकरण से अजन्य तो हैं किन्तु उसका असाधारण कारण संस्कार हैं, अनुपलब्धि प्रमाण नहीं । यदि अनुपलब्धि के उक्त लक्षण में 'अनुभव' पद न दिया जाय तो अभाव स्मृति के असाधारण कारण संस्कार में अतिव्याप्ति हो जायेगी । अतः 'अनुभव' पद दिया गया है । स्मृति से भिन्न ज्ञान ही अनुभव होता है जिसका करण कोई न कोई प्रमाण होता है । यथा-घटानुभव में प्रत्यक्ष प्रमाण है । इसी प्रकार घटाभावानुभव में अनुपलब्धि प्रमाण है । घटाभाव का अनुभव ज्ञानकरण से अनुपपन्न है जिसका असाधारण कारण अनुपलब्धि प्रमाण है । इस प्रकार अनुपलब्धि के उक्त लक्षण में समस्त पदों की सार्थकता स्पष्ट है । साथ ही परिभाषाकार धर्मराज की सूक्ष्म विवेचन दृष्टि भी प्रकट हुई है ।[101]

अनुपलब्धि प्रमाण की विवेचना से स्पष्ट होता है कि घटादि अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से माना जाता है, किन्तु धर्मादि (अतीन्द्रिय वस्तु) के अभाव का ज्ञान अनुमान प्रमाण से, जबकि दोनों में ज्ञान अभावविषयक ही होता है । तो प्रश्न है कि घटाभाव की भाँति धर्मादि के अभाव का अनुभव अनुपलब्धि प्रमाण से क्यों नहीं माना जाता है? इसके समाधानार्थ वेदान्तपरिभाषाकार का

कथन है कि केवल योग्यानुपलब्धि ही अभावग्राहक है । धर्माधर्म की उपलब्धि न होने पर उसके अभाव का निश्चय नहीं हो पाता है । वेदान्ती अभाव प्रमा में प्रतियोग्यानुपलब्धि को अनुपलब्धिरूपेण कारण नहीं मानते है प्रत्युत् योग्यतानुपलब्धि-रूपेण अनुपलब्धि को अभावानुभव में कारण मानते हैं । अर्थात् यदि भूतल में घट होता तो भूतल की भाँति घट की भी उपलब्धि होती । यहाँ घट की उपलब्धि नहीं हो रही है । इस प्रकार के विमर्श से अनुपलब्धि की इसी योग्यता के द्वारा अभाव का निश्चय होता है । धर्माधर्म के नेत्रादि से अनुपलब्ध होने के कारण उसमें प्रत्यक्ष योग्यता नहीं होती । इसी अयोग्यता के कारण उनका तथा उनके अभावों का ज्ञान अनुमानादि प्रमाणों से ही सम्भव है । इस प्रकार अभाव की ग्राहक योग्यानुपलब्धि ही है । श्लोकवार्त्तिककार आचार्य कुमारिल भी इसी से सहमत हैं । पार्थसारथि मिश्र का कथन है कि अभाव में दृश्यादर्शन (योग्यानुपलब्धि) ही प्रमाण है, केवल अदर्शन नहीं ।[102]

वेदान्तपरिभाषाकार ने अभाव के ग्राहक के रूप में योग्यानुपलब्धि को स्वीकार करके इसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत किया है । योग्यानुपलब्धि का स्वरूप क्या है? योग्यता का निश्चय कैसे होता है? इसके विश्लेषण पूर्वक समाधान के लिए वेदान्तपरिभाषा में विकल्प उठाये गये हैं ।(1) योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि-ज्ञान न होना योग्यतानुपलब्धि का स्वरूप है । या (2) प्रत्यक्षायोग्य अधिकरण में प्रतियोगी की अनुपलब्धि विवक्षित है? इनमें से प्रथम स्वीकार करने पर स्तम्भ में पिशाचादि के भेद का प्रत्यक्ष न हो सकेगा । दूसरे पक्ष में भी आत्मा में धर्माधर्मादि के अभाव का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा । जबकि पिशाच का प्रत्यक्ष होना चाहिए जो कि नहीं होता है । आत्मा में धर्माधर्मादि के अभाव का भी अनुपलब्धि प्रमाण से ज्ञान होने लगेगा, क्योंकि आत्मारूप अधिकरण (जहाँ धर्माधर्म आदि का अभाव अनुमित है) प्रत्यक्षयोग्य तो है ही, जबकि आत्मा में धर्माधर्मादि के अभाव का ज्ञान सदैव अनुमान प्रमाण से होता है, अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं । उक्त दोनों विकल्पों में क्रमशः अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष आते हैं । अतः इसका परिहार

करते हुए वेदान्तपरिभाषाकार का कहना है कि अनुपलब्धि का विशेषण 'योग्य' पद है । यह योग्यता क्या है? तर्क से अनुपलब्धि के प्रतियोगी की उपलब्धि की प्राप्ति कर सकना ही अनुपलब्धि की योग्यता है ।[103] इसी को और अधिक स्पष्ट करते हैं- जिस अनुपलब्धि के विषय में अमुक वस्तु यहाँ होती तो दिखाई देती, वह दिखती नहीं, अतः नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है, वहीं योग्यानुपलब्धि है, वही अभाव प्रमा के लिए अपेक्षित छठा प्रमाण है । ध्यातव्य है कि घटाभाव का अनुपलब्धि प्रमाण से ग्रहण प्रकाश में ही सम्भव है । अन्धकार में घटाभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं, वरन् अनुमानादि से होता है, क्योंकि अंधकार में उस प्रकार का आपादन सम्भव नहीं है । ऐसा भी सम्भव है कि वहाँ घट हो तथा अन्धकार के कारण उसकी अनुपलब्धि हो रही हो । योग्य न होने पर अनुपलब्धि प्रमाण से घटाभाव का ज्ञान नहीं किया जा सकता । स्तम्भ में पिशाच होता तो स्तम्भ के समान उसका भी प्रत्यक्ष होता- ऐसा आपादन सम्भव हो जाता है । इसलिए स्तम्भ में पिचाश भेद भी अनुपलब्धि प्रमाणगम्य है । स्तम्भ में पिशाच के भेद (अन्योन्याभाव) अथवा पिशाच का अत्यंताभाव दोनों ही विषय में उपर्युक्त तर्क सम्भव हो जाता है । आत्मा में धर्मादि के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि धर्मादि के अतीन्द्रिय होने से उसके विषय में यदि आत्मा में धर्मादि होता तो आत्मा की भाँति उसका भी उपलम्भ होता- ऐसा आपादन सम्भव नहीं है । इसलिए धर्मादि के अभाव को अनुमान प्रमाणगम्य माना गया है ।

वेदान्तपरिभाषाकार ने अभाव को अनुपलब्ध प्रमाणगम्य बताया है । अतएव नैयायिक समझने लगे कि वेदान्ती अधिकरण के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष को अवश्यमेव स्वीकार करते हैं । अतः अभावानुभव के प्रति इन्द्रियों में कारणता उभयवादी सम्मत होने से सिद्ध ही है । ध्यातव्य है कि नैयायिक अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत मानते हैं, अतः उनके मत में इन्द्रियाँ अभावग्रहण में 'करण' हैं, जबकि वेदान्तपरिभाषाकार

इन्द्रियों की कारणता मानते हुए भी उसे अभाव का करण नहीं मानते हैं, यही दोनों में भिन्नता है । अतः नैयायिक यह आक्षेप कर सकते हैं कि इन्द्रियों के रहने पर उस स्थल में अभाव का निश्चय नहीं हो पाता । इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि इन्द्रियों को ही अभावानुभव में कारण मानना चाहिए । इस आक्षेप के समाधानार्थ धर्मराज का कहना है कि इन्द्रिय का अभाव के साथ सन्निकर्ष नहीं होता । अतः अभावज्ञान में इन्द्रिय को हेतु नहीं कहा जा सकता । अधिकरण में ही उसकी सार्थकता है । अतः वेदान्तसिद्धान्त में अनुपलब्धि को ही करण माना गया है जबकि नैयायिक अनुपलब्धि को केवल कारण ही मानते हैं, करण नहीं । तथापि दोनों ही मतों में अनुपलब्धि अभाव का कारण है, क्योंकि नैयायिक मत में भी घट दिखाई नहीं देता अर्थात् घट की अनुपलब्धि है- इसीसे घटाभाव का निश्चय होता है । इन्द्रिय अभावानुभव में अन्यथासिद्ध है और अन्यथा सिद्ध कदापि कारण नहीं बन सकता, क्योंकि कारण सदैव अन्यथासिद्ध शून्य और कार्य से नियतपूर्ववर्ती होता है । अतः नैयायिकों को भी प्रत्यक्ष प्रमाण के स्थान पर अनुपलब्धि को ही अभावानुभव का करण मानना चाहिए ।[104]

अभाव प्रमा के प्रत्यक्ष कोटि में होने पर उसका कारण भी प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ । अतः इन्द्रिय से ही अभाव प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है । अनुपलब्धि नामक पृथक् प्रमाण से नहीं- इस आशय को लेकर नैयायिकों को आक्षेप है कि 'भूतले घटो नास्ति' इस अभावानुभव-स्थल में भूतल अंश का प्रत्यक्ष होना तो वेदान्ती व नैयायिक दोनों को माना है । अतः प्रत्यक्ष होने के कारण वृत्ति का निर्गमन आवश्यक है, अर्थात् भूतलावच्छिन्न चैतन्य तथा नेत्रादि द्वारा निकली हुयी तदाकार अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य का अभेद हो गया है । विषयावच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृावच्छिन्न चैतन्य के अभेद से प्रत्यक्षत्व सिद्ध ही है । अतः जिस प्रकार भूतलावच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य का अभेद हो जाने पर भूतल का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार भूतल में घटाभाव से अवच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य का भी अभेद

हो जाने के कारण अभावांश में भी प्रत्यक्षत्व मानना चाहिए । इस आक्षेप के समाधानार्थ धर्मराज अध्वरीन्द्र का कथन है कि भूतल में घटाभाव की प्रतीति को प्रत्यक्ष मानने पर भी उसका करण अनुपलब्धि प्रमाण प्रत्यक्ष से भिन्न ही है, क्योंकि साध्यप्रमा के प्रत्यक्षात्मक होने पर उसका करण भी प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत होना चाहिए- यह कोई नियम तो है नहीं, क्योंकि 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्य में 'मैं दसवाँ हूँ' ऐसा ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही होता है जबकि उसका प्रमाण प्रत्यक्षभिन्न आप्त वाक्यरूप शब्द प्रमाण है । इसी प्रकार अभाव का प्रत्यक्ष होने पर भी उसका साधन प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) नहीं हो सकता वरन् अनुपलब्धि नामक पृथक प्रमाण ही उस अभाव प्रत्यक्ष का प्रयोजक है । धर्मादि के अभाव का अनुपलब्धि प्रमाण से प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, क्योंकि उसकी योग्यता ही नहीं है ।

इस पर नैयायिकों की यह शंका हो सकती है कि घट तथा घटाभाव के प्रत्यक्ष में कोई विलक्षणता नहीं है तब घटप्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष प्रमाण तथा घटाभाव प्रत्यक्ष में अनुपलब्धि प्रमाण को करण मानकर दो प्रमाणों को मानने का कोई औचित्य नहीं है । धर्मराज का उत्तर है कि प्रमा में भेद होने से ही प्रमाणों में भेद होता है- यह कोई नियम नहीं है । वृत्तियों में भेद होने से ही प्रमाणों में भेद हो जाता है । यही कारण है कि 'दशमस्त्वमसि' इस शब्द से प्रमा प्रत्यक्षात्मक ही होती है तथा उसका प्रमाण प्रत्यक्ष न होकर शब्द ही है- इस प्रकार प्रमा में भेद न होने पर प्रमाणों में भेद हो जाता है । अतः प्रत्यक्षता में भेद न होने पर भी अभावाकारवृत्ति का जनक प्रमाण अनुपलब्धि है तथा इतर विषयाकारवृत्तियों में इन्द्रिय ही प्रमाण है । इतर विषयाकारवृत्तियाँ इन्द्रिय से उत्पन्न होती है जबकि अभावाकारवृत्ति वैसी नहीं होती है, क्योंकि उसका इन्द्रिय से सन्निकर्ष नहीं हो पाता । इन्द्रियाँ तो अधिकरणों के साथ सम्बद्ध होकर भूतलादि अधिकरणाकारवृत्ति को उत्पन्न करके ही उपक्षीण हो जाती है । घट की अनुपलब्धि प्रमाण से ही वह अभावाकारवृत्ति जन्य है अतः अभावाकार वृत्ति का जनक अनुपलब्धि संज्ञक पृथक् प्रमाण ही है ।

पुन: नैयायिक आक्षेप करते हैं कि घटाभावज्ञान के प्रत्यक्षात्मक होने पर भी यदि किसी व्यक्ति को भूतल पर घट की उपस्थिति होने पर भी दृष्टिगत नहीं होता है, और इस भूतल पर घट नहीं है- इस प्रकार का भ्रमात्मक घटाभाव का ज्ञान होता है- तो इसे प्रत्यक्षात्मक कहना पड़ेगा, क्योंकि यहाँ भी घटाभावज्ञान अनुपलब्धिजन्य ही है । भ्रमस्थल पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि भ्रम का विषयीभूत पदार्थ उस समय अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है, अत: प्रकृत में भी भ्रम के विषयभूत घटाभाव को अनिर्वचनीय ही मानना चाहिए । केवल यही मान्यता नहीं है, वरन् जहाँ पर आरोप्य पदार्थ के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है वहाँ पर नैयायिकों की भाँति अन्यथा ख्याति को भी स्वीकार किया गया है । भ्रम का विवेचन करते हुए यह बतलाया जा चुका है कि जहाँ जपापुष्प इन्द्रियसन्निकृष्ट होगा, वहाँ स्फटिक में भासमान रक्तत्व प्रातिभासिक उत्पन्न नहीं होता, अपितु पुष्पगत रक्तत्व ही स्फटिक में भासित होता है- यह मानकर ऐसे स्थलों में अन्यथाख्याति ही माननी चाहिए । इस प्रकार वेदान्तपरिभाषाकार अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं मानते हैं जबकि नैयायिक अभाव का ग्रहण संयुक्तविशेषणता नामक सन्निकर्ष से स्वीकार करते हैं । यद्यपि 'भूतले घटो नास्ति' इस अभावानुभव स्थल में भूतल अंश का प्रत्यक्ष होना ग्रन्थकार तथा नैयायिक दोनों मानते हैं तथापि उसका करण अनुपलब्धि प्रमाण प्रत्यक्ष से भिन्न ही है । इन्द्रिय अथवा विषयाकारावृत्ति रूपी प्रत्यक्ष-प्रमाण अभाव प्रमा का करण नहीं, क्योंकि फलभूत ज्ञान यदि प्रत्यक्षात्मक हो तो उसका करण भी प्रत्यक्ष होगा ऐसा कोई नियम नहीं, जैसे- दशमस्त्वमसि में ।[105]

वेदान्तपरिभाषाकार ने अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण निरूपित करने के पश्चात् अब उसका भेद स्पष्ट करते हैं । अभाव चार प्रकार का है- प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव तथा अन्योन्याभाव ।

प्रागभाव- प्राक् (कार्य उत्पन्न होने के पूर्व) उस कार्य का जो अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं । प्रागभाव, कार्य के उपादान कारण में रहता है । घट रूप

कार्य का अभाव अपनी उत्पत्ति के पूर्व उपादान कारण मृत्तिका में विद्यमान रहता है, क्योंकि प्रागभाव की प्रतीति 'भविष्यति' यहाँ कार्य होगा- इस प्रकार से मृत्तिका में ही होती है । उस प्रतीति की उपपत्ति के लिए ही प्रागभाव को स्वीकार करना पड़ता है । अतः प्रागभाव का आदि तो नहीं है, पर घटादि कार्य उत्पन्न होने पर उसका अन्त हो जाता है {अनादि सान्तः प्रागभावः} ।

घटनाश के अनन्तर जो उसका अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव है । पर घटध्वंस का पुनः ध्वंस नहीं होता इसी से उसको सादि अनन्त कहते हैं {सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः}

त्रैकालिक अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं । जिस प्रकार वायु में रूप का अभाव पहले भी था, आज भी है, और आगे भी रहेगा । नैयायिक अत्यन्ताभाव का उदाहरण 'भूतले घटो नास्ति' {इस भूतल पर घट नहीं है ।} प्रस्तुत किया है । पर यह सम्यक् मत नहीं है । भूतल के किसी एक देश में घट का अत्यन्ताभाव कहा जा सकता है, किन्तु सर्वदा भूतल में घट का अत्यन्ताभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस देश में भूतल में घट होगा ही, तो फिर वहाँ घट का अत्यन्ताभाव निर्विवाद नहीं कहा जा सकता । इसके विपरीत वायु में रूप का अत्यन्ताभाव निर्विवाद है । नैयायिक अत्यन्ताभाव को नित्य मानते हैं, किन्तु परिभाषाकार उनसे असहमत रखते हैं, क्योंकि रूपात्यन्ताभाव का अधिकरण वायु का भी प्रलयकाल में नाश हो जाता है । इसलिए घटादि के समान अत्यन्ताभाव भी ध्वंस का प्रतियोगी है । अंतर इतना ही है कि घट उत्पन्न होकर दण्ड प्रहार से पूर्व तक स्थिर माना गया है और वायु में रूप का अत्यन्ताभाव सृष्टि के आरम्भ से प्रलय के पूर्व तक रहता है । प्रलयकाल में ब्रह्मातिरिक्त सत्ता ही नहीं होती । अतः घटादि के समान अत्यन्ताभाव को भी परिभाषाकार विनाशी प्रस्तुत करते हैं ।

तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता अन्योन्याभाव कहलाती है, जैसे- घट घट पट नहीं है । ऐसी प्रतीति का विषय जो अभाव, वह अन्योन्याभाव

है । विभाग, भेद, पृथकत्व शब्दों से इसी का व्यवहार होता है । अत: अन्योन्याभाव में विभाग तथा पृथकत्व का अन्तर्भाव करना परिभाषाकार को इष्ट है । नैयायिक विभाग तथा पृथकत्व को गुण मानते हैं, किन्तु इस अन्योन्याभाव से भिन्न विभागादि के मानने में कोई प्रमाण नही इस अन्योन्याभाव के अधिकरण सादि और अनादि भेद से दो प्रकार के हैं । इसलिए सादि और अनादि भेद से अन्योन्याभाव भी दो प्रकार का है- ﴾1﴿ घट में पट का भेद सादि है, क्योंकि पट भेद का अधिकरण घट सादि है । ﴾2﴿ जीव में ब्रह्म का भेद और ब्रह्म में जीव का भेद अनादि है, क्योंकि जीव, ब्रह्म अनादि हैं । यह दोनों प्रकार का भेद ध्वंस का प्रतियोगी होता है; क्योंकि पटभेद के अधिकरण घट के नाश होने पर पटभेद का भी नाश पूर्वरीति से निर्विवाद ही है । एवं जीव ब्रह्म का भेद भी अविद्या प्रयुक्त है, इसलिए मूलाविद्या का ब्रह्मज्ञान से तिरोहित होते ही मूलाविद्या के अधीन जीव ब्रह्म के भेद का नाश होना सम्यक् ही है । यहाँ नैयायिकों ने भेद को अनन्त माना है । पर जब प्रलयकाल में घट और पट ही न रहेगें तो उनका भेद कहाँ पर रहेगा ? अत: भेद भी अविद्या मूलक तथा अपारमार्थिक है ।

सादि तथा अनादि भेद से अन्योन्याभाव दो प्रकार बताया गया । उसी प्रकार वह सोपाधिक तथा निरूपाधिक भेद से पुन: दो प्रकार का कहा जाता है ।

जिसकी सत्ता उपाधि की सत्ता से व्याप्य हो अर्थात् जब तक उपाधि रहे तब तक जिसकी सत्ता हो - ऐसे अन्योन्याभाव को सोपाधिक कहते हैं । जैसे एक ही आकाश में घटाकाश मठाकाशादि रूप से भेद दीखता है । इसी प्रकार एक ही ब्रह्म का अन्त:करण भेद से जो भेद होता हैवह भी सोपाधिक भेद ही होता है । जिस भेद में उपाधि की सत्ता अपेक्षित नहीं है, उसे निरूपाधिक भेद कहा है । जैसे घट में पट, पट में घट ये सभी निरूपाधिक भेद हैं ।

नैयायिकों का प्रश्न है कि ब्रह्म में प्रपंच भेद का ﴾संसारभेद का﴿ यदि स्वीकार करें तो अद्वैत सिद्धान्त के साथ विरोध होगा । इसके परिहारार्थ में बताया जाता

है कि प्रपंच और अन्तःकरण ही जब तात्त्विक नहीं है तो इन उपाधियों के कारण होने वाला भेद कैसे तात्त्विक हो सकेगा? अतः प्रपंच को अद्वैत ब्रह्म में कल्पित माना है, ऐसे ही जीव ईश्वर भाव भी उसमें कल्पित है, जब प्रतियोगी ही कल्पित है तब उसके कारण से होने वाले भेद को कल्पित मानने में क्या आपत्ति है। कल्पित से अधिष्ठान ब्रह्म अप्रभावित रहता है। अतएव इनसे अद्वैत सिद्धान्त में कोई व्याघात नहीं होता। इन सभी अभावों की प्रतिति योग्यानुपलब्धि प्रमाण द्वारा ही सम्पन्न होती है। नैयायिक अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत मानते हैं, अतः उनके मत में इन्द्रियाँ अभावग्रहण में 'करण' है, जबकि ग्रन्थकार इन्द्रियों की कारणता स्वीकार करते हुए भी उसे अभाव का करण नहीं मानते हैं, क्योंकि इन्द्रिय का अभाव के साथ सन्निकर्ष नहीं होता। अतएव 'घटाभाववद् भूतलम्' इस प्रत्यक्ष में अभाव विषय पड़ता है। किन्तु उसका ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं होता, अपितु अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष से, शब्द से तथा अनुपलब्धि प्रमाण से भी होता है। 'घटाभावद् भूतलम्' इस प्रत्यक्ष से पूर्व शब्द तो है नहीं। इन्द्रियों का अन्वय-व्यतिरेक भूतल को ग्रहणकार क्षीण हो जाने से अभाव ग्रहण में अन्यथासिद्ध है। अतएव अनुपलब्धि प्रमाण ही अभाव ज्ञान में करण है, क्योंकि जब किसी से पूछते हैं कि यहाँ पर घट नहीं है इस विषय में आपके पास क्या प्रमाण है तो कोई व्यक्ति यही कहेगा कि घट दिखायी नहीं पड़ रहा है और यदि होता तो दिखायी पड़ता अतः अभाव प्रत्यक्ष में सम्यक अनुभव सिद्ध अनुपलब्धि प्रमाण ही ग्रहणीय है।[106]

वेदान्तपरिभाषा द्वारा अनुपलब्धि प्रमाण को 'व्यवहारे भट्टनयः' का प्रतिमान माना गया है। परन्तु धर्मराज ने अपनी मौलिक चिंतन प्रक्रिया से न्याय के मतों का समर्थन तथा खण्डन के अतिरिक्त वेदान्त के गूढ़ दृष्टिकोणों को बोधगम्यता प्रदान की। ग्रन्थकार तथा नैयायिक दोनों अभाव को पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं। दोनों अभाव को अधिष्ठान से भिन्न मानते हैं। पर नैयायिक अभाव को अधिष्ठान में ही आश्रित उसी के एक विशेषण रूप से रहने वाला धर्म मानते हैं। दोनों ही मतों में अनुपलब्धि अभाव का कारण है, क्योंकि नैयायिक मत में भी

'घट दिखायी नहीं देता अर्थात् घट की अनुपलब्धि है इसी से घटाभाव का निश्चय होता है । वेदान्तसिद्धान्त में अनुपलब्धि को ही 'करण' माना गया है जबकि नैयायिक अनुपलब्धि को केवल 'कारण मानते हैं, 'करण' नहीं । नैयायिक अभाव को प्रत्यक्ष से गृहीत मानने के कारण इन्द्रियों को अभाव ग्रहण में 'करण' मानते हैं । जबकि वेदान्तपरिभाषाकार अधिकरण के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष को स्वीकार करते हैं । परन्तु इन्द्रियों को अभाव का 'करण' नहीं मानते हैं;क्योंकि इन्द्रिय के साथ अभाव का सन्निकर्ष नहीं हो पाता है । इसी प्रकार 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रकार के घटाभावानुभवस्थल में भूतल अंश में प्रत्यक्षत्वतो दोनों ही मतोंसेसिद्ध है । परन्तु निरूपण प्रक्रिया पृथक् है- नैयायिक अनुपलब्धि नामक छठा प्रमाण न मानकर इन्द्रिय को ही प्रत्यक्ष में करण मानते है, परन्तु ग्रन्थकार भूतल में घटाभाव की प्रतीति को प्रत्यक्ष मानकर भी उसका 'करण' प्रत्यक्ष प्रमाण न मानकर अनुपलब्धि मानते हैं । जैसे 'दशमस्त्वमसि' {मैं दसवाँ हूँ ।} ऐसा ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही होता हैजबकि उसका प्रमाण प्रत्यक्षभिन्न आप्तवाक्यरूप शब्द प्रमाण है । इसी प्रकार अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर भी उसका साधन प्रत्यक्ष {इन्द्रिय} नहीं हो सकता वरन् अनुपलब्धि नामक पृथक् प्रमाण ही उस अभाव प्रत्यक्ष का प्रयोजक है ।

वस्तुओं के अभाव का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भाट्ट मीमांसकों तथा अद्वैत-वेदान्तियों द्वारा अनुपलब्धि को अन्य प्रमाणों से भिन्न एक स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि अभाव का बोध प्रत्यक्ष प्रमाण से अस्पष्ट है । यह अनुपलब्धि {अभाव} नामक प्रमाण अनुमानस्वरूप भी नहीं है, क्योंकि अभाव के ग्रहणार्थ उपयुक्त लिंग,अप्राप्त है । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या अभावविषयक ज्ञान में भासित होने वाला 'भाव' पदार्थ ही अभावविषयक अनुमान का हेतु होगा ? वार्त्तिककार ऐसा नही मानते हैं) क्योंकि अभावविषयक ज्ञान के समय भाव पदार्थ का ग्रहण नहीं हो पाता । भावविषयक ज्ञान के न होने पर ही अभाव ज्ञान उत्पन्न होता है । इसके विपरीत जब भावविषयक प्रतीति होती है तो अभाव-विषयक ज्ञान नहीं होता है । किन्तु अभाव का ग्रहण यदि अनुमान से माना जाय तब तो व्याप्ति रूप सम्बन्ध के ग्रहण में दोनों सम्बन्धियों का ज्ञान आवश्यक है ।

'भूतले घटाभावः' इसको यदि अनुमानगम्य मानें तो साध्यरूप अभाव का ज्ञान आवश्यक है, इस अभाव का ज्ञान किस प्रमाण से होगा ? अतः अनुमान प्रमाण से अभाव का बोध नहीं हो सकता । उस समय लिंग द्वारा सम्बन्धी का ग्रहण नहीं हो सकता । अतः अभावप्रमा के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न प्रमाणान्तर की अपेक्षा है ।[107] जिसको अभाव, दृश्यादर्शन अनुपलब्धि आदि कहते हैं । इसी तरह यह ज्ञान शब्द और उपमान द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि इस अभाव का ज्ञान प्राप्त करने में आप्तवाक्य अथवा सादृश्य ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती । अतः अभाव के साक्षात् ज्ञान की व्याख्या के लिए अनुपलब्धि को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना वांछनीय है ।

अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानने के कई हेतु भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं । प्रत्यक्षादि के अनुत्पन्न इस अभाव प्रमाण से 'नास्ति' इत्याकारक प्रतीति होती है । अनुपलब्धि प्रमाण के पश्चात् ही 'नास्ति' इत्याकारक प्रतीति होने के कारण 'अभाव' नामक स्वतन्त्र प्रमाण अवश्य है । यदि कोई यह कहे कि प्रमाण अभावरूप कैसे हो सकता है; क्योंकि प्रमाण को भावस्वरूप होना चाहिए तो इसके समाधानार्थ वार्त्तिककार का कथन है कि इसका प्रमेय भी अभावरूप है, अतः जैसा प्रमेय है उसी प्रकार का प्रमाण भी है । प्रत्यक्षादि प्रमाण भावरूप है अतः इनसे अभाव की प्रतीति नहीं हो सकती है । जिस प्रकार घटादि भावस्वरूप प्रमेय का ज्ञापक प्रमाण अभावस्वरूप नहीं होता उसी प्रकार 'अभाव' स्वरूप प्रमेय का ज्ञापक प्रमाण भी भावस्वरूप नहीं हो सकता । यह कोई राजाज्ञा नहीं है कि प्रमाण भावस्वरूप ही हो । जिसका फल 'परिच्छेद' हो अर्थात् प्रमात्मक बुद्धि हो वही प्रमाण है । प्रमाण के लक्षण के अनुसार 'अभाव' की भी प्रमाणता हुई, क्योंकि उसे भी 'घटो नास्ति' इत्यादि आकारों की प्रमात्मक बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं । प्रत्यक्षादि भावात्मक प्रमाणों से भिन्न 'अभाव' नामक प्रमाण की सिद्धि वार्त्तिककार ने निम्न प्रकार से किया है- जिस प्रकार प्रत्यक्षादि भावस्वरूप प्रमाणों के प्रमेयों का अभाव 'प्रमेयाभाव' शब्द से व्यवहृत होता है उसी प्रकार उन प्रमेयों के अभाव का ज्ञापक अभावस्वरूप (अनुपलब्धि स्वरूप) प्रमाण भी

'प्रमाणभाव' शब्द से व्यवहृत होता है ।

पुनः जिस प्रकार भावस्वरूप प्रमेय भावस्वरूप प्रमाण से गृहीत होता है, उसी प्रकार अभावस्वरूप प्रमेय भी अभावस्वरूप प्रमाण से ही गृहीत हो सकता है । अतः प्रत्यक्षादि भावात्मक प्रमाणों से भिन्न अभाव नामक (अनुपलब्धि) प्रमाण अवश्य है।[108.]

उपर्युक्त विवेचन से वेदान्तपरिभाषा में प्रमाणों की अधिमान्यता सिद्ध होती है । सत्रहवीं शती के इस अद्वैत-वेदान्त ग्रन्थ में वेदान्त सम्मत प्रमाणों की श्रुतियों एवं युक्तियों के माध्यम से प्रतिपादित किया गया है । अनुषंगतः प्रमाणमीमांसा के विवेचन में परिभाषाकार ने षड्-प्रमाणों में न्याय-दर्शन द्वारा निरूपित चारों प्रमाणों का अत्यन्त तार्किक प्रक्रिया से विश्लेषण किया है जो न्याय-दर्शन की निरूपण-पद्धति से अधिकांशतः समानता रखती है, साथ ही वेदान्त तथा न्याय द्वारा निरूपित प्रतिमानों का परिभाषाकार ने कतिपय स्थलों पर अध्याहार किया है तथा अपने नये अभिमत का प्रतिपादन भी किया है । जिसका साक्षात्कार उपसंहार में करना प्रासंगिक होगा । जहाँ तक वेदान्तपरिभाषा सम्मत प्रमाणमीमांसा पर न्याय-प्रभाव का पक्ष है, उसके संदर्भ में यह कहना समीचीन होगा कि परिभाषाकार की गवेषणात्मक निरूपण-पद्धति काव्य के विषय में प्रस्तुत महाकवि कालीदास के इस श्लोक को चरितार्थ करती है कि प्राचीन होने मात्र से कोई काव्य उत्तम नहीं हो जाता और न नवीन होने मात्र से, साथ ही सज्जन (विद्वान) लोग स्वयं परीक्षण करके औचित्य-अनौचित्य का ग्रहण करते हैं और मन्द-बुद्धि वाले दूसरों के मत के अनुसार गतार्थ होते हैं ।[109.] चूँकि कोई विचारधारा जो सामयिक आकर्षण का केन्द्र होती है, इसका कदापि यह अर्थ नहीं होता कि वही समीचीन या सर्वोच्च है । परिभाषाकार ने न्याय तथा वेदान्त का गहन अनुशीलन करके न्याय की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया का अध्याहार किया और अनुषंगतः तर्क-विरुद्ध न्याय के प्रतिमानों का खण्डन भी किया । वेदान्तीय परम्पराओं महावाक्य (तत्त्वमसि) में लक्षणा का खण्डन करने में भी संकोच नहीं किया । परिभाषाकार का उपर्युक्त गवेषणात्मक मौलिक चिंतन उनकी प्रखर ओजस्विता

के साथ-साथ भारतीय परम्परा में दर्शनशास्त्र के मूलभूत आशय 'शब्दे निष्णात' और 'परे निष्णात' को स्वयमेव प्रकट कर देता है ।

§viii§ प्रमाणमीमांसा का महत्त्व:-

'मानाधीना मेयसिद्धि:' का अनुकरण करते हुए प्राय: सभी भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाणमीमांसा का गहन चिंतन किया है। चाहे वह चार्वाक द्वारा मात्र प्रत्यक्ष का प्रतिपादन किया गया हो अथवा मीमांसक कुमारिल द्वारा षड्-प्रमाणों का विस्तृत निरूपण हो । भारतीय दर्शन में 'प्रमाण' का सुव्यवस्थित विवेचन सर्वप्रथम महर्षि गौतम प्रणीत न्यायसूत्र में मिलता है । नव्य-न्याय के उदय के साथ पंडित गंगेश से लेकर परवर्त्ती काल में 'प्रमा' के साधन के रूप में प्रमाण की निरूपण-पद्धति विश्लेषणात्मक रूप धारण कर लेती है । तर्क-प्रधान होने पर 'प्राचीन-न्याय' का मुख्य लक्ष्य था 'मुक्ति' । सूत्रकार गौतम का कहना था कि 'प्रमाणप्रमेय---तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम:' । अर्थात् प्रमाण-प्रमेय आदि तत्त्वों का ज्ञान नि:श्रेयस प्राप्ति के लिए किया जाता है । किन्तु नव्य-न्याय का प्रधान ध्येय है 'शुष्क तर्क करना'। तथा किस प्रकार के ज्ञान को ज्ञान की संज्ञा देनी चाहिए । नव्य-नैयायिकों ने अपनी पैनी दृष्टि से विश्लेषण की नवीन तार्किक पद्धति का निरूपण किया, जो उनके गहन अनुशीलन की महत्ता का द्योतक है । जिससे दर्शन की 'लेखन-परिपाटी' पूर्ण प्रभावित हुई । अन्ततोगत्वा जो साधन था वही साध्य हो गया ।

वेदान्त-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय जगत् मिथ्यात्व के प्रतिपादन के साथ जीव-ब्रह्म की एकता है । इसके लिए 'अशेष-प्रमाण' को साधन माना गया है । इसे प्रातिभज्ञान §इन्टूयूटिव नालेज§ भी कह सकते हैं । यह ब्रह्मानुभुति है । इसे अपरोक्षानुभूति या आत्बोध भी कहा गया है । यह समस्त अविद्या का उच्छेद कर देता है । इसलिए इसे अशेष-प्रमाण कहा जाता है । वेदान्तपरिभाषा परम्परागत प्रतिपाद्य विषय के गूढ़ रहस्यों का स्पष्टीकरण अत्यन्त सुबोधमय शैली में षड् लौकिक प्रमाणों के माध्यम

से विश्लेषित करती है । जो उसे 'प्राचीन' तथा 'नव्य-न्याय' की निरूपण-प्रक्रिया के अत्यन्त समीप ला देती है ।

प्रमाणमीमांसा के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि प्रमाणों की परिभाषा और उनकी संख्या, विभिन्न प्रमाणों के विषय इत्यादि पक्षों पर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में गम्भीर मतभेद है । यह विचार-विभिन्नता भारतीय प्रमाणमीमांसा के चिंतन की सप्राणता को प्रमाणित करती है ।

टिप्पणी :-

1- ल्युट् च ।

पाणिनीय सूत्राष्टाध्यायी §पाणिनि संपा0 ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर, अमृतसर, 1955§, 3/3/115

2- स्वनिष्ठव्यापाराव्यवधानेन फलनिष्पादकम् इदमेव साधकतमम् ।

नागेशभट्ट-परमलघुमंजूषा §हितचिंतक प्रेस, काशी, 1941§ ।

3- व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम् ।

अन्नंभट्ट- तर्क संग्रह, पृ0-50.

4- करणाधिकरणयोश्च । पाणिनि-सूत्र, 3/3/117.

5- कोलब्रुक- मिसलेनियस एस्सेज, पृ0- 330.

6- अन्ये पाखण्डिनः सर्वे ज्ञानवार्त्तासुदुर्लभाः ।

एवं वेदान्त विज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते ।।

देखिए: प्रो0 संगमलाल पाण्डे-भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण §1981§, पृ0-369.

7- शारीरकभाष्य, 1/1/2.

8- वही,

9- माण्डूक्यकारिकाभाष्य, 3/1/1.

10- अर्थविषयसंदिग्धमव्यभिचारि च ज्ञानं येन जन्यते तत् प्रमाणम् ।

जयन्तभट्ट-न्यायमंजरी, पृ0-250.

11- प्रत्यक्षानुमानोपमाशब्दाः प्रमाणानि ।

न्यायसूत्र, 1/1/3.

12- व्यवहारे तु भाट्टनमः । तथा तानि च प्रमाणानि षट्,

प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदात् ।

वेदान्तपरिभाषा-जिज्ञासु की टीका, पृ0-30.

13- केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत् ।

ब्रह्मसूत्र- शांकरभाष्य, 1/1/4.

14- प्रत्यक्ष शब्द भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति के अनुसार तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है- ज्ञान, ज्ञान-साधन और ज्ञेय-पदार्थ । ध्यातव्य है कि यह केवल उत्पन्न होने वाले-जन्य प्रत्यक्ष की परिभाषा है, अजन्य- नित्य प्रत्यक्ष (ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान) की नहीं, क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन लौकिक पदार्थों की व्याख्या है । धर्मराज भी वृत्ति-ज्ञान की केवल अभिव्यक्ति निरूपित करते हैं ।

15- प्रत्यक्षप्रमा चैतन्यमेव ।

मुसलगांवर-वेदान्तपरिभाष की टीका, पृ0-20.

16- वही, पृ0- 11.

17- अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात् ।

प्रकाशात्म- पंचपादिकाविवरण (मद्रास सीरीज, 1958) .

18- इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।

महर्षि गौतम- न्यायसूत्र, 1/1/4.

19- मुसलगांवकर- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0- 36.

20-(i)'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'

विश्वनाथ-न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (गणेश महात्य, वाराणसी, 1950), पृ0-280.

(ii)- साक्षात्कारित्वं प्रत्यक्षस्य लक्षणम् । तथा ज्ञानाकारणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्ष विचार-प्रकरण (दरभंगा, 1957), पृ0-570.

21- विषयस्य प्रत्यक्षत्वन्तु प्रमातृभिन्नत्वम् ।

मुसलगांवकर - वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-62-63.

22- प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्न चैतन्याभेदः ।

जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0- 46.

23- मुसलगांवकर- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-86.

24- वही, पृ0-78.

25- डा0 बिजल्वान- भारतीय न्यायशास्त्र, पृ0-171-173.

26- जे0 एस0 मिल, ए सिस्टेम ऑव लॉजिक, पृ0-03.

27- प्रत्यक्षत्वादनुमानाप्रवृत्ते: ।

शंकराचार्य- ब्रह्मसूत्रभाष्य ।

28- अनुमितिकरणमनुमानम् ।

जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा की टीका , पृ0-159.

29- अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञात्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या । वही, पृ0-159.

30- वही, पृ0- 159.

31- वही, पृ0-162.

32- मितेनलिंगेन लिंगिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम् ।

वात्स्यायन- न्यायभाष्य, 1/1/3.

33- वाचस्पतिमिश्र- न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका, अनुमाननिरूपण ।

34- व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमिति: ।

तत्त्वचिन्तामणि- अनुमान-प्रकरण ।

35- अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानम्.... ।

जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-160.

36- विश्वनाथ न्याय सिद्धान्तमुक्तावली (हिन्दी व्याख्या, श्री ज्वालाप्रसाद गौड़), पृ0- 286.

37- विश्वनाथ-'भाषापरिच्छेद, पृ0-66 तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ0-28 .

38- न तावत् अनुमितो लिंग करणम्, अयोग्यलिंगकानुमितो व्यभिचारात् ।
तत्र त्वदभिमतपरामर्शस्य व्यापारत्वासम्भवेन तस्य तत्राकरणत्वात् ।

रामकृष्ण- शिखामणि, पृ0-164

39- तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः ।

जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-160.

40- मुसलगांवकर- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-151-152.

41- वही, पृ0- 160.

42- आचार्य उद्योतकर- न्यायवार्त्तिक, अनुमान व्याख्या

43- व्याप्तिः साध्यवदन्यभिन्नसम्बन्ध उदाहृतः ।

विश्वनाथ- कारिकावली, पृ0-68.

44- प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्--- व्याप्तिः । तत्त्वचिन्तामणि (अनुमान)

45- साहचर्यनियमो व्याप्तिः । केशवमिश्र- तर्कभाषा ।

46- यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः ।

अन्नंभट्ट- तर्क संग्रह (आनन्द भा0स0), पृ0-134.

47- अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा व्याप्तिः ।

मुसलगांवकर- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0- 161.

48- तत्त्वचिन्तामणि, पृ0-662.

49- जिज्ञासु-वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-173-178.

50- तत्र पंचतयं केचित् द्वयमन्ये वयं त्रयम् ।

उदाहरणपर्यन्तञ्च यद्वोदाहरणादिकम् । — भट्टपाद ।

51- जिज्ञासु-वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-179-180.

52- यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते, तत् वाक्यं प्रमाणम्

वही, आगमपरिच्छेद, पृ0- 199.

53- न्यायसूत्र, 1/1/7.

54- तर्कसंग्रह, पृ0- 50.

55- तर्क संग्रह, पृ0- 36, तथा तर्कभाषा, पृ0- 47.

56- प्रयोगहेतु भूतार्थतत्त्वज्ञानजन्य: शब्द: । तत्त्वचिन्तामणि, शब्द-खण्ड ।

57- प्राचीन न्याय के अनुसार वाक्यार्थ-बोध में केवल तीन बातें आवश्यक मानी गयी हैं किन्तु नव्य-न्याय के अनुसार अर्थ-बोध के लिए चौथी बात-तात्पर्य की भी आवश्यकता पड़ती है ।

काशीनाथ- न्यायशास्त्र की रूपरेखा, पृ0-78.

58- वाक्यजन्यज्ञानेच आकांक्षायोग्यताऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि ।

जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-199.

59- वही, पृ0- 203 तथा पाश्चात्य विचारक जी0 राइल ने लिखा है "किसी अभिकथन के अर्थ को निर्धारित करने के लिए यह ज्ञात होना चाहिए कि {अमुक अभिकथन} किस प्रकार से व्यवहृत किया जाता है और {किस प्रकार से} व्यवहृत नहीं किया जाता है ।"

ब्रिटिश फिलासफी इन द मिड-सेन्चुरी, पृ0- 255.

60- जिज्ञासु-वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0- 202-216.

61- पदस्यपदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयानुभावकत्वाकांक्षा । अन्नंभट्ट-तर्कसंग्रह, पृ0-52.
तुलनार्थ-"भाषा में किसी शब्द का अर्थ उसके प्रयोग पर निर्भर करता है ।"

विट्गेन्स्टाइन- फिलासफिकल इन्वेस्टीगेसंस

62- मुसलगांवकर- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-198.

63- जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0- 214.

64- योग्यता च तात्पर्य विषयीभूतसंसर्गाबाध: । मुसलगांवकर-वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0 202,

65- वही, पृ0 202-204.

66- आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थिति: ।

जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0- 298.

67- शब्दैः सन्निहितत्वेन बोधितत्वं हि पदार्थानां सन्निधिरित्युच्यते ।
मीमांसक कुमारिल भट्ट के अनुयायी आचार्य नारायण ।

68- सा च शाब्दबोधे हेतुः तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात् ।
जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0- 251.

69- वही, पृ0 251-264.

70- आकांक्षा सन्निधानं च योग्यता चेति त्रयम् ।
कुमारिल भट्ट- तन्त्रवार्त्तिक, 1, पृ0 455.

71- वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम् । विश्वनाथ-कारिकावली, पृ0-84.

72- अर्थज्ञानशून्येन पुरूषणोच्चरितवेदादर्थ प्रत्ययाभावप्रसंगात् ।
जिज्ञासु-वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-252.

73- वही, पृ0- 254.

74- वही, पृ0-255.
तुलनार्थः शब्द, वाक्य, ध्वनियों एवं चिन्हों के रूप संदर्भ में ही सार्थक है, परिस्थितियाँ ही सार्थकता प्रदान करती हैं ।
विटगेन्स्टाइन-फिलासिफिकल इन्वेस्टीगेसंस, 183.

75- जिज्ञासु-वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-261-264.

76- डा0 बिजल्वान-भारतीय न्यायशास्त्र, पृ0 342-344.

77- जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0-222-230.

78- वही, पृ0-221.

79- तत्र लक्षणाविषयो लक्ष्यः । वही, पृ0- 230.

80- वही, पृ0- 236-240.

81- उपमितिकरणमुपमानम् । तर्कसंग्रह ।

82- प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् । न्यायसूत्र, 1/1/6.

83- यत्रारण्यकेन केनचिद्-- गोसदृशो गवयपदवाच्य ।
   विश्वनाथ- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ0-35।.

84- उपमितिकरणमुपमानं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः । अन्नंभट्ट- तर्कसंग्रह ।

85- वात्स्यायन- न्यायभाष्य, 1/1/6
   तुलनार्थः पाश्चात्य दर्शन में 'संज्ञासंज्ञि' को 'सेमाण्टिक्स' कहा जाता है । जिसका तात्पर्य है कि वह संज्ञा {नाम, शब्द} उस संज्ञि {नामधारी वस्तु} का बोध करे जिसके लिए वह अमुक नाम प्रयुक्त किया गया है ।

86- प्रभाकरमिश्र- शबरभाष्य पर बृहती टीका {चौखम्बा, 1929}, पृ0-83.

87- काशीनाथ उपाध्याय- न्यायशास्त्र की रूपरेखा, पृ0-69.

88- अतएव स्पर्यमाणायां गविगवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम् ।
   वाचस्पति मिश्र- सांख्यतत्त्वकौमुदी {श्रीरमामुद्रणालय, गया, 1930}, पृ0-127.

89- न चेदं प्रत्यक्षेण सम्भवति, गोपिण्डस्य तदेन्द्रियासन्निकर्षात् ।
   जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0- 194.

90- अर्थस्य: वस्तुनः आपत्तिः आपादनं सम्पादेन प्रमाज्ञानं अर्थापत्तिः प्रमा ।
   आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, तर्कभाषा की व्याख्या, पृ0-157-158.
   तथा
   अर्थस्यापत्तिः प्रमाज्ञानं यतः तत् अर्थापत्तिः प्रमाणम् ।
   आनन्द झा, वेदान्तपरिभाषा व्याख्या, पृ0-203.

91- उपपाद्यज्ञानेन उपपादककल्पनमर्थापत्तिः ।
   जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा टीका, पृ0-273.

92- डा0 बिजल्वान, भारतीय न्यायशास्त्र, पृ0- 413.

93- श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा-अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च ।
जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा टीका, पृ0-279.

94- यत्रवाक्यैकदेश---- इत्याध्याहार: ।
डा0 उर्मिला शर्मा, 'अद्वैतवेदान्त में तत्त्व और ज्ञान' (छन्दवती प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1978), पृ0- 365.

95- जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा-टीका, पृ0-284.

96- अभावोऽपि प्रमाणाभावो 'नास्ति' इत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य ।
मीमांसक शबर स्वामी-शाबरभाष्य (मद्रास विश्वविद्यालय, 1934), पृ0-30.

97- आचार्य कुमारिल- श्लोकवार्त्तिक (मद्रास विश्वविद्यालय, 1940), पृ0-288.

98- ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम् ।
जिज्ञासु, वेदान्तपरिभाषा- टीका, पृ0- 288.

99- वही, पृ0- 288.

100- भावानुभवकरणे चक्षुरादावतिव्याप्तिवारणाय अभाव पदम् ।
शिवदत्त- अर्थदीपिका, पृ0-288.

101- जिज्ञासु, वेदान्तपरिभाषा- टीका, पृ0- 289-292.

102- दृश्यादर्शनमभावे प्रमाणं नादर्शनमात्रम् ।
मीमांसक पार्थसारथिमिश्र- न्यायरत्नाकर (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1898-99), पृ0-342.

103- तार्किकप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वम् ।
जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा- टीका, पृ0-294.

104- वही, पृ0-298-302.

105- फलवैजात्यं बिना कथं प्रमाणभेद इति चेत् ।
वही, पृ0- 303

106- वही, पृ0- 310- 322.

107- तदानीं न हि-------- प्रमाणान्तरतो गतिः ।

श्लोकवार्त्तिक— अभावप्रकरण, पृ0- 29 .

108- पं0 दुर्गाधर झा, श्लोकवार्त्तिक, हिन्दी व्याख्या, पृ0- 589.

109- पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढ़ः पर प्रत्ययनेयबुद्धि : ।।

महाकवि कालिदास- मालविकाग्निमित्र, 1/2

चतुर्थ अध्याय

वेदान्तपरिभाषा के प्रमाणेतर पदार्थों पर न्याय प्रभाव

(i) वेदान्तपरिभाषा के प्रमाणेतर पदार्थ

(ii) तत् पदार्थ के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण

(iii) सृष्टि-प्रक्रिया एवं प्रलय विषयक विचार

(iv) तत् पद के वाच्य ईश्वर चैतन्य एवं प्रतिबिम्बवाद

(v) त्वम् पदार्थ विषयक अवधारणा

(vi) तत् एवं त्वम् का ऐक्य

वेदान्तपरिभाषा के पदार्थों पर न्याय प्रभाव

§1§ वेदान्तपरिभाषा के प्रमाणेतर पदार्थ:-

प्रमेय का निरूपण प्रमाण के अधीन होने के कारण, प्रमाण निरूपण के पश्चात् प्रमेय विषय का प्रतिपादन अपेक्षित है । प्राय: वेदों अथवा श्रुतियों के प्रामाण्य को मानने वाले न्याय, सांख्य आदि भी आस्तिक दर्शन कहलाते हैं, किन्तु वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय इस अर्थ में परम आस्तिक हैं कि वे अपने सिद्धान्तों को मुख्यत: उपनिषदों से प्राप्त करने का दावा करते हैं । यह तो स्पष्टत: कहा जा सकता है कि अद्वैत अथवा शांकर वेदान्त उपनिषदों के अत्यन्त समीप है, विशेषत: प्राचीनतम् उपनिषदों अर्थात् बृहदारण्यक और छांदोग्य के। शंकराचार्य ने, जो अद्वैत मत के प्रमुख प्रतिष्ठाता माने जाते हैं, अपने प्रस्थानत्रयी §उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता§ पर रचे गये भाष्यों में अपने अद्वैत का प्रतिपादन और समर्थन किया है । अद्वैत वेदान्त की विशेष मान्यता का कारण उसकी दार्शनिक प्रौढ़ता भी है । एक अच्छी दर्शन-पद्धति की अनेक विशेषताएँ होती हैं । उनकी सैद्धांतिक मान्यताएँ गणना में कम होती हैं, उसका तर्कगत आधार पुष्ट होता है और वह महत्त्वपूर्ण समझी जाने वाली समस्याओं का सुसम्बद्ध, बुद्धिगम्य समाधान प्रस्तुत करती हैं । अद्वैत वेदान्त की मुख्य मान्यताएँ तीन या चार ही हैं, अर्थात् §1§ एकमात्र तात्त्विक पदार्थ निर्गुण, कूटस्थ नित्य, सच्चिदानन्द ब्रह्म है, §2§ जीव और ब्रह्म एक ही हैं, §3§ जीव और ब्रह्म में जो भेद दिखायी देता है, अथवा जीव जो बन्धनग्रस्त दिखायी पड़ता है, उसका कारण अनादि अविद्या है । §4§ यह दृश्यमान जगत् माया का कार्य है अतएव मिथ्या है । किन्तु शंकराचार्य ने व्यवहार में सभी पदार्थों की सत्ता तथा उनकी उपयोगिता को स्वीकार किया है । प्राचीन परम्परा का अनुकरण करते हुए सत्रहवीं शदी के वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराज अध्वरीन्द्र ने अपने प्रकरण ग्रन्थ के पाँचवें श्लोक में ही 'वेदान्तार्थावलम्बिनी'[1] कहकर अपने प्रमाणेतर

पदार्थ का अभिप्राय स्पष्ट कर दिया है । इसके अतिरिक्त सातवें परिच्छेद में 'विषय' का प्रकरण रखकर उसका कुशलता पूर्वक विवेचन भी किया है, जिससे वेदान्तपरिभाषा के प्रमाणेतर पदार्थ का प्रतिपाद्य स्वयमेव स्पष्ट है ।

प्रमा के स्वरूप में बताया गया है कि 'अनधिगत अबाधित विषयं ज्ञानत्वं' अर्थात् जिसका पहले से ज्ञान न हो और जिसका बाध भी न होता हो, तो ऐसी वस्तु के ज्ञान को प्रमा कहते हैं । इस प्रकार निरूपित किये गये प्रमाणों का प्रामाण्य दो प्रकार का है-- ॥1॥ व्यावहारिक अबाधित्व रूप तत्त्व को बतलाने वाला । ॥2॥ पारमार्थिक वस्तु का ज्ञान कराने वाला ।[2] उक्त दोनों की यथार्थता का बोध प्रमाण होता है । अन्तर इतना ही है कि एक का विषय व्यवहार काल में बाधित न होने पर भी ब्रह्म ज्ञान से बाधित हो जाता है । दूसरे पारमार्थिक तत्त्व को बतलाने वाले उपनिषद् वाक्यों के विषय जीव ब्रह्म की एकता का भूत, भविष्यत्, वर्तमान किसी भी काल में अपलाप नहीं होता । अत: 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवाद्वितीयम्' यहाँ से लेकर 'तत्त्वमसि' इस वाक्य तक के सभी उपनिषद् महावाक्यों में पारमार्थिक तत्त्वावेदकत्व रूप प्रामाण्य है, क्योंकि जीव ब्रह्मैक्य रूप तीनों कालों में अबाध्य रहता है ।

अत: प्रमेय का निरूपण प्रासंगिक होने के कारण व्यावहारिक विषयों का निरूपण वेदान्तोपयोगी न होने से जीवब्रह्मैक्य का ही निरूपण वांछनीय है और वह तत् तथा त्वम् पदों के ज्ञानाधीन है । अतएव समस्त श्रुतियों का तात्पर्य अद्वैत बोध में हैं । तत् तथा त्वम् पद के वाच्यार्थ ईश्वर, जीव में औपाधिक भेद रहने पर भी दोनों के लक्ष्यार्थ निरूपाधिक चैतन्य में स्वल्प भी भेद नहीं हैं । इसी को श्रुति, युक्ति तथा अनुभव से समझ लेना है । यही वेदान्तपरिभाषा के पदार्थ हैं, जिनका निरूपण अपेक्षित है ।

श्रुति से स्पष्ट होता है कि एक को जानने से सब कुछ जान लिया जाता है, यह तभी संभव है, जब एकमात्र ब्रह्म ही, जो जगत् का कारण है सत् पदार्थ हो ।

छान्दोग्योपनिषद् के छठें अध्याय में अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाते हुए ऋषि आरुणि ने कहा कि कारण को जान लेने से उसके समस्त कार्य जान लिए जाते हैं, क्योंकि कार्य नाम-रूप-मात्र है । अतएव तत्पदार्थ ब्रह्म के लक्षण का निरूपण प्रासंगिक हो जाता है ।

§ii§ तत्पदार्थ के स्वरूप तथा तटस्थ लक्षण:-

किसी भी पदार्थ का निरूपण लक्षण तथा प्रमाण से होता है । असाधारण धर्म का नाम लक्षण है । ब्रह्म का लक्षण और प्रमाण भिन्न न होकर एक ही वाक्य है । इसलिए 'लक्षण-प्रमाणाभ्याम्' से स्पष्ट है कि वह दो प्रकार का होता है--स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण वह लक्षण कभी-कभी स्वरूपभूत हुआ करता है । अर्थात् उसमें धर्मधर्मी भाव न होने पर भी उसकी कल्पना करके उसी को धर्मी रूप से लक्ष्य एवं धर्म रूप से लक्षण कह देते हैं । इसी का नाम स्वरूप लक्षण है । श्रुतियों ने ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द' तथा सत्य, ज्ञान और अनन्त शब्द से निरूपित किया है । सत्य का अर्थ त्रैकालिक अबाध्य होता है । ज्ञान का अर्थ चैतन्य होता है और अनन्त का अर्थ देशकाल वस्तु परिच्छेद से रहित होता है । आनन्द ब्रह्म का गुण नहीं है । स्वरूप है । जैसे- लौहित्य, उष्णता और प्रकाश दीपक का स्वरूप है वैसे ही श्रुतिप्रतिपादित सत्, चित् और आनन्द, ब्रह्म का स्वरूप है और वही लक्षण होने से स्वरूप लक्षण कहलाता है । लेकिन 'सच्चिदानन्द' को ब्रह्म का स्वरूप मानने से लक्ष्य में ही लक्षणत्व प्राप्त होना §लक्ष्य ही लक्षण हो जायेगा§ । इसके परिहार में कहा जा सकता है कि एक ही ब्रह्म सत्यत्व रूप काल्पनिक धर्म से लक्षण होता है और वही ब्रह्मत्व रूप धर्म से लक्ष्य होता है । अतएव पंचपादिका के प्रणेता पद्मपादाचार्य ने दिखलाया है कि आनन्द, ज्ञान और सत्यत्व-ये चैतन्य से भिन्न नहीं हैं तथापि भिन्न से प्रतीत होते हैं, इस कारण उन्हें ब्रह्म के धर्म कहा गया है ।

ध्यातव्य है कि नैयायिक परमेश्वर को द्रव्य मानते हैं और साथ ही उसमें सत्ता, जाति एवं चेतनता आदि गुण अनुस्यूत स्वीकार करते हैं । न्याय का ईश्वर

अखण्ड ऐश्वर्य (आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य) से युक्त है ।[3.]
अद्वैतवेदान्त का तत् पदार्थ द्रव्य नहीं है, बल्कि निर्गुण कहलाता है । ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप है । न्याय की भाँति आगन्तुक गुण नहीं है ।

पुनः अद्वैतवेदान्त ब्रह्म को प्रमाणों का विषय नहीं मानता, वह उसे ज्ञान का विषय भी नहीं मानता । उल्लेखनीय है कि प्रमाणशब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है— वह जिसके द्वारा ज्ञान के विषय का मापन किया जाता है अथवा जिसके द्वारा ज्ञेय को सीमित या परिच्छन्न किया जाता है । चूँकि ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, इसलिए उसे प्रमाणों तथा ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता । इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म का लक्षण तथा प्रमाण भिन्न न होकर एक ही वाक्य है ।

स्वरूप-लक्षण का निरूपण करने के बाद ब्रह्म के तटस्थ-लक्षण का विवेचन वांछनीय है । जो लक्षण जब तक लक्ष्य रहे तब तक उसमें न रहकर (कुछ समय तक ही लक्ष्य में रहकर) अन्य पदार्थों से लक्ष्य को भिन्न करने वाले लक्षण को तटस्थ लक्षण कहते हैं । यथा 'काकवत् देवदत्तस्य गृहम्' यहाँ पर देवदत्त के घर की स्थिति पर्यन्त तो नहीं रहता, फिर भी उससे भिन्न घर का व्यावर्त्तक और देवदत्त के घर का द्योतक भी है । अर्थात् कौआ देवदत्त के घर पर सदा बैठा नहीं रहता फिर भी दूसरे के घर से पृथक् करके देवदत्त के घर का बोधक तो है ही । इसी से उसको तटस्थ लक्षण कहते हैं । इसी प्रकार प्रकृत ब्रह्म में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय हेतुत्व अविद्या दशा में ही प्रतीति होती है । प्रलय के पश्चात् जगत् के ही न होने से उसका हेतुत्व भी उसमें नहीं रहता । तथापि इतर का व्यावर्त्तक एवं ब्रह्म का परिचायक होने से जगत्जन्मादिकारणत्व को ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण कहा जाता है; क्योंकि ब्रह्म से भिन्न ब्रह्मादि देव में समग्र प्रपंच की कारणता नहीं कहा जा सकता यद्यपि जगत् के अन्तर्गत तो माया भी है फिर भी वह कार्य रूप न होने के कारण जगत् पद से विवक्षित नहीं किन्तु कार्य रूप अर्थ ही जगत् पद से विवक्षित है और कारणत्व पद से कर्तृत्व अभिप्रेत है ।

श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्म के तटस्थ-लक्षण की भाँति नैयायिक गन्धत्व को पृथ्वी का लक्षण बताते हैं, किन्तु महाप्रलय में परमाणुओं के रहने पर भी उनमें गन्ध नहीं मानते । 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति' न्याय से उत्पन्न हुआ द्रव्य क्षणभर निर्गुण रहता है । अतएव नैयायिक उत्पत्तिकालावच्छिन्न घट में भी गन्ध नहीं मानते । तथापि गन्धगुण के कारण पृथ्वी, जलादि द्रव्यों से भिन्न है--ऐसा ज्ञान होता है । इसलिए गन्ध में तटस्थ-लक्षण का समन्वय हो जाता है ।

ब्रह्म के तटस्थ-लक्षण के निरूपण से ज्ञात होता है कि वह जगत् का कर्त्ता है । जिसे कार्य के उपादानकारण का अपरोक्ष ज्ञान हो और उस कार्य के करने की इच्छा तदनुकूल प्रयत्न भी जिसका हो उसे कार्य का कर्त्ता कहते हैं । जैसे— कुम्हार में घट की मृत्तिकारूप उपादान कारण का प्रत्यक्षज्ञान, घट उत्पन्न करने की इच्छा और दो कपालों का संयोग कराने वाला प्रयत्न भी रहता है, इसलिए वह घट का कर्त्ता है । ठीक ऐसे ही प्रकृत ईश्वर में सम्पूर्ण कार्य जगत् के उपादान का प्रत्यक्ष ज्ञान, चिकीर्षा तथा कृति रहने से उसे संसार का कर्त्ता कहा गया है ।सामान्यतः सम्पूर्ण संसार को जानने से उसे सर्वज्ञ और विशेष रूप से जानने के कारण उसे सर्वविद् कहते है । माया जड़ होने से उसमें ज्ञान आदि संभव नहीं । इस कारण माया जगत् की कर्त्री नहीं है । अतः ब्रह्म के जगत्कर्तृत्वरूप तटस्थ-लक्षण तर्कसंगत है । जगत् उत्पत्ति की चिकीर्षा के विषय में उसने कामना की मैं बहुरूप होऊँ और प्रजा को उत्पन्न करूँ-- यह तैत्तिरीय श्रुति ही प्रमाण है । अतएव सम्पूर्ण जगत् का कर्त्ता परमेश्वर को माना गया है ।

परिभाषाकार ने ब्रह्म के कर्तृत्व को बताकर उसके उपादानकारणत्व का निरूपण किया है । नैयायिक भी ईश्वर में 'ज्ञान-चिकीर्षाकृति' को स्वीकार करते हैं । नैयायिकों के अनुसार परमेश्वर में उपादान कारणों का--(परमाणुओं का) साधन के बारे में अपरोक्ष ज्ञान तथा उसमें लक्ष्य पूर्ति इच्छा तथा साथ-साथ प्रयत्न भी अनुस्यूत रहता है । न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर ईश्वर की नित्य बुद्धि को ही क्रियाशक्ति - इच्छा और प्रयत्न- का प्रतिनिधि मानते हैं । वाचस्पति मिश्र ने भी तात्पर्य टीका

में तारतम्यतार ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न को ईश्वर में स्वीकार किया है । परन्तु वेदान्ती ब्रह्म के कर्तृत्व यथा नैयायिकों के परमेश्वर के कर्तृत्व में भेद यह है कि वेदान्त में कर्तृत्व का आशय उपादान कारणत्व से है, जबकि न्यायदर्शन में कर्तृत्व को केवल संयोजक अर्थ में ग्रहण किया गया है, उपादानों के सृष्टा के अर्थ में नहीं ।

ग्रन्थकार ने ब्रह्म के स्वरूप तथा तटस्थ लक्षण का निरूपण किया । लक्षणों के माध्यम से ही 'तत्त्वमसि महावाक्य के तत्पद' के तात्पर्य का भी प्रतिपादन किया । ब्रह्म के जगत्जन्यादि कारण रूप तटस्थ लक्षण का भी विवेचन किया । तदनन्तर परमेश्वर से जगत् की उत्पत्ति का क्रम निरूपण प्रासंगिक है ।'

§iii§सृष्टि-प्रक्रिया एवं प्रलय विषयक विचार:-

'ज्ञान-चिकीर्षाकृति' के माध्यम से ईश्वर सृष्टि की रचना में तत्पर होता है । सृष्टि के प्रारम्भ काल में परमेश्वर सृज्यमान प्रपञ्च की विचित्रता के कारण प्राणियों के कर्म से सहकृत होता है । उसी परमेश्वर के अपरिमित अनिरूपित शक्ति विशेष से विशिष्ट माया भी सहायक बन जाती है । तदनन्तर आकाशादि अपञ्चीकृत पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं । इन्हीं को तन्मात्राएँ भी कहते हैं । उन भूतों में से आकाश का गुण शब्द है । किन्तु वायु के शब्द और स्पर्श दो गुण हैं।तेज के शब्द स्पर्श, रूप, तीन गुण हैं । जल के शब्द, स्पर्श रूप और रस चार गुण हैं । पृथ्वी के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच गुण हैं ।

अद्वैत ब्रह्म के जगत्-रचना में प्रवृत्त होने पर वह वैषम्यादि अनेक दोषों से सम्पृक्त हो सकता है । इसके समाहार में परिभाषाकार का कहना है कि प्रपञ्च की विचित्रता का कारण न ब्रह्म है न केवल माया है, किन्तु अनन्त प्राणियों के कर्म संस्कार §ब्रह्म के§ सहकारी कारण माने गये हैं अतः प्रपञ्च रचना के पश्चात् जिन प्राणियों को इन सुख-दुःख होना है, उनके कर्म संस्कार ही उत्पाद्यमान संसार की विचित्रता में हेतु हैं । ईश्वर तो उनकी सहायता §कारण कर्म§ से उनके अनुसार केवल विभाग कर देता है, इस कारण उसमें उक्त दोष नहीं आ पाते । यह उचित

ही है कि निरुपाधिक ब्रह्म में जगत् का उत्पादकत्व यद्यपि संभव नहीं हो सकता, तथापि, अनादि, अनिर्वचनीय, अपरिमित शक्तिरूप अपनी माया की उपाधि से जब ब्रह्म, युक्त हो जाता है तब उस सोपाधिक ब्रह्म (ईश्वर) में जगत्कर्तृत्व उत्पन्न होता है ।

न्यायदर्शन के अनुसार ईश्वर करुणा और इच्छा के कारण सृष्टिकर्त्ता व्यक्ति है । वह पिता की भाँति जगत् की सृष्टि तथा पालन करता है । उदयन के अनुसार जिस प्रकार कोई बुद्धिमान और शक्तिशाली राजा अपनी प्रजाओं को उनके अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार पुरस्कार या दण्ड देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी हमें हमारे कर्मानुसार सुख या दुःख प्रदान करता है ।[4] जीवों के कर्म भिन्न हैं, अतः कर्मफल में भी विषमता स्वाभाविक है । अतएव न्याय तथा परिभाषाकार के सृष्टि निरूपण में कहा जा सकता है कि दोनों ही मानते हैं कि सृष्टि जीवों के पूर्व संचित कर्मों के अनुसार होती है ।

वेदान्तपरिभाषाकार तैत्तिरीय उपनिषद् के सृष्टि प्रक्रिया से सहमत है । सर्वप्रथम परमेश्वर से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई । कारण के गुण कार्य में देख जाते हैं ।[5] यथा रक्त तन्तु से रक्त पट उत्पन्न होता है ।

नैयायिक आकाश को नित्य मानते हैं । किन्तु आकाश को नित्य मानना श्रुतिविरुद्ध है । क्योंकि तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार मायाविशिष्ट चैतन्य से सर्वप्रथम आकाश की तत्पश्चात् क्रमशः अन्य भूतों की उत्पत्ति बतलायी गयी है ।

पुनः ग्रन्थकार नैयायिकों के 'शब्द केवल आकाश का ही गुण है' असहमत व्यक्त करते हैं । क्योंकि वायु आदि अन्य भूतों में भी शब्द की प्रतीति होती है । इस पर नैयायिक कहते हैं कि वायु आदि द्रव्यों में शब्द की प्रतीति भ्रम से होती है । जैसे अग्नि की उष्णता जल में भासित होने से 'उष्णं जलं' व्यवहार होता है,

उसी तरह आकाशनिष्ठ शब्द ही वायु आदि में प्रतीति होता है, और उसी को 'यह वायु का शब्द है' ऐसी भ्रान्ति होती है । ग्रन्थकार का कहना है कि बाधज्ञान होने पर पूर्वज्ञान भ्रम रूप सिद्ध होता है । परन्तु स्थूल वायु में प्रतीयमान शब्द-प्रतीति का कभी बाध नहीं होता ।[6.] इस कारण उसे भ्रम मानना उचित नहीं । अतः नैयायिकों का उपर्युक्त दृष्टिकोण अनौचित्यपरक है ।

किन्तु पृथ्वी का एकमात्र गन्ध ही गुण मानना चाहिए, क्योंकि जल आदि में जो गन्ध की प्रतीति होती है, वह अन्वयव्यतिरेक से पृथ्वी के सम्बन्ध से ही होती है । ये सभी अपञ्चीकृत भूत त्रिगुणात्मक माया के कार्य हैं । फिर भी उनमें सत्त्वगुण से युक्त पाँच भूतों से व्यक्तिशः यथाक्रम श्रोत, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका-ये पाँच इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं । परन्तु आकाशादिकों के एकत्र हुए सात्त्विक अंश से मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त उत्पन्न होते हैं । सत्त्वगुण से उत्पन्न होने के कारण इनमें विषय प्रकाशन सामर्थ्य रहता है और इसी से इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं । अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत के कार्य होने से ये इन्द्रियाँ-इन्द्रियों से नहीं जानी जा सकती । अतः इन्हें अतीन्द्रिय भी कहा गया है । सभी में सभी भूतों के अंश आ जाने से इन्हें पञ्चीकरण कहते हैं । पृथिव्यादि में स्वांश की अधिकता से पृथिव्यादि व्यवहार होता है । इसी को महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में कहा है कि अपने अंश की अधिकता होने से पृथिवी-जल-अग्नि-वायु तथा आकाश शब्द से इन्हें कहा जाता है । इस प्रकार अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से सूक्ष्म जगत् की रचना निरूपित हुई । जिसमें मन, बुद्धि, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण मिलकर सत्रह तत्त्व वाला सूक्ष्म शरीर परस्पर अनुस्यूत है । समष्टि व्यष्टि भेद से सूक्ष्म शरीर दो प्रकार के हैं-ब्रह्माण्ड व्यापी होने के कारण हिरण्यगर्भ का लिंगशरीर 'पर' होता है और हम लोगों का लिंगशरीर 'अपर' (अव्यापक) होता है । हिरण्यगर्भ के लिंगशरीर की 'महत्तत्त्व' संज्ञा है और हमारे लिंगशरीर को 'अंहकार' कहा जाता है ।

सूक्ष्म जगत् की उत्पत्ति का निरूपण किया गया । अब पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से स्थूल जगत् की उत्पत्ति प्रतिपादित करते हैं । तमोगुणयुक्त पञ्चीकृत भूतों से पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, महः, जन, तप और सत्य–इन सात उर्ध्व लोकों की और अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल–इन सात अधोलोकों की (ब्रह्माण्ड) एवं जरायुज, अण्डज, स्वदेज और उद्भिज्ज–इन चतुर्विध स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है । वृक्षादि भी पापकर्म के फल भोगने के लिए आयतन होने से शरीर शब्द से कहे जाते हैं । 'आत्मनो भोगायतनं शरीरम्'– आत्मा के भोग के स्थान को शरीर कहते हैं– यह शरीर का लक्षण है । मनुष्य, शरीरजन्य कर्मदोषों से स्थावरयोनि को पाते हैं । इस प्रकार मायाविशिष्ट परमेश्वर के संकल्प से अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के सप्तदश अवयव से युक्त सूक्ष्मशरीर की एवं हिरण्यगर्भ के स्थूल शरीर की उत्पत्ति हुई । इस प्रकार भूत एवं भौतिक सृष्टि का प्रतिपादन किया गया ।

नैयायिकों के अनुसार जब महेश्वर में विश्व सृष्टि करने की इच्छा होती है, तो वह नित्य तत्त्वों–पृथ्वी, जल, वायु और तेज की सहायता लेता है । इन चार द्रव्यों का सबसे छोटा रूप, जिसका विभाजन संभव नहीं है, परमाणु है । ये परमाणु निरवयव हैं । स्वभाव से ये निष्क्रिय हैं । किन्तु ईश्वर की प्रेरणा और 'अदृष्ट' की सहायता से इनमें क्रिया उत्पन्न होती है जिससे इन परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है । इसी क्रम से इस भौतिक जगत् का विकास हुआ है । अतएव कर्मफल देने के लिए तत्पर अदृष्ट, जीवात्मा और परमाणुओं के संयोग से पहले वायु के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है । इस क्रिया से दो–दो परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है । इससे वायु के द्वयणुकों की उत्पत्ति होती है, फिर उपर्युक्त रीति से सब द्वयणुकों में क्रिया और प्रतिक्रिया से परस्पर तीन–तीन द्वयणुकों के संयोग से एक–एक त्रयणुक की, चार–चार त्रयणुकों के संयोग से एक–एक चतुरणुक की और पाँच–पाँच चतुरणुक की और पाँच–पाँच चतुरणुकों के संयोग से एक–एक पंचाणुक की उत्पत्ति होती है । इसी रीति से बढ़ते–बढ़ते एक महावायु की उत्पत्ति

होती है । उपर्युक्त रीति से ही क्रमशः जल, पृथिवी तथा स्थूल तेज की भी उत्पत्ति परमाणुओं, द्वयणुकों और त्रयणुकों के माध्यम से होती है ।

इस प्रकार चार महाभूतों के उत्पन्न हो जाने पर महेश्वर के संकल्प से ही एक 'अण्ड' की उत्पत्ति होती है । इसमें तेज के परमाणु उपादान कारण का कार्य करते हैं । पृथिवी के परमाणु इसके सहायक-निमित्त कारण हैं । इसी 'अण्ड' में इसके अधिपति के रूप में एक चतुर्मुख ब्रह्म का उत्पादन कर वह महेश्वर सृष्टि के लिए उसे (ब्रह्म को) नियुक्त करता है । इसलिए यह 'अण्ड' 'ब्रह्माण्ड' कहलाता है । यही ब्रह्मा विभिन्न जीवात्माओं के अदृष्टों को ठीक-ठीक जानकर अखण्ड प्राणियों का उत्पादन करता, जीवात्माओं को भिन्न-भिन्न प्रकार का शरीर देता तथा उनके उपभोग के साधनों का निर्माण करता है । पीछे चलकर यह केवल निर्देशक का कार्य करता है और बाह्य कार्य करना जीवों को सौंप देता है । यही सृष्टि की प्रक्रिया है ।

वेदान्तपरिभाषा तथा न्यायदर्शन में निरूपित जगत् प्रक्रिया में समानता कम विषमता अधिक है । दोनों दर्शन मानव शरीर को पंचभौतिक मानते हैं । परन्तु नैयायिकों के अनुसार वह पार्थिव ही है क्योंकि उसमें पार्थिव गुण की उपलब्धि होती है । दोनों दर्शन इन्द्रियों को अतीन्द्रिय मानते हैं क्योंकि इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियों का ग्रहण नहीं माना गया । विषमता की दृष्टि से न्याय दर्शन परमाणुकारणवाद का समर्थक है । जबकि ग्रन्थकार परमाणुकारणवाद का खण्डन करते है और कहते हैं कि द्रव्यों के परमाणु नित्य हैं तो महाप्रलय में ये विद्यमान रहेंगे जबकि प्रलय में ब्रह्म अतिरिक्त किसी का अस्तित्व अनुपस्थित रहता है । परिभाषाकार परमेश्वर से सर्वप्रथम आकाश महाभूत का आविर्भाव बतलाते हैं । जबकि नैयायिक पहले वायु के परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति मानते हैं । दोनों ही दर्शनों में चतुर्विध शरीर का उल्लेख मिलता है-- जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ।[70]

सृष्टि-प्रक्रिया के अनन्तर प्रलय का प्रसंग प्रकृत: प्रस्तुत हो जाता है । सृष्टि और प्रलय की परम्परा बीज-अंकुर की परम्परा के समान अनादि है । ऐसा कोई प्रलय नहीं जिसके पहले एक सृष्टि न हुई हो और ऐसी कोई सृष्टि भी नहीं है जिसके पूर्व प्रलय न रहा हो । परन्तु आस्तिक परम्परा में पूर्वमीमांसा सृष्टि और प्रलय की विचारधारा को अस्वीकार करती है । जगत् सर्वदा वर्त्तमान है । यह दर्शन जगत् तथा उसके सम्पूर्ण विषयों को सत्य समझता है । कर्म के नियम के अनुसार सृष्टि की रचना होती है । मूल जगत् की सृष्टि तथा प्रलय नहीं हुआ करते । केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते तथा विनाश को प्राप्त होते रहते हैं । जगत् की नवीन सृष्टि तथा नाश कभी नहीं होता ।[8०] मीमांसक दैनिक प्रलय मानते हैं । दैनिक प्रलय का अर्थ यह है कि प्रत्येक क्षण किसी न किसी पदार्थ का विनाश अवश्य होता है । किन्तु प्रत्येक क्षण किसी न किसी पदार्थ की उत्पत्ति भी अवश्य होती है । इसलिए विनाश-उत्पत्ति-विनाश-उत्पत्ति का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता आ रहा है । समस्त भावात्मक कार्यों का एकाएक किसी समय में विनाश अर्थात् प्रलय मानना एक अनधिकार चेष्टा है ।

किन्तु समस्त जगत् की उत्पत्ति की बात तभी तर्कसंगत हो सकती है, यदि इसका अभाव हो । समस्त जगत् का अभाव ही प्रलय है ।[8०] अत: प्रलय की प्रामाणिकता के बिना जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त निराधार है । अतएव वेदान्तपरिभाषाकार सृष्टि निरूपण के बाद प्रलय का निरूपण प्रासंगिक मानते हैं । त्रैलोक्य के नाश को प्रलय कहते हैं । वह नित्य, प्राकृत, नैमित्तिक तथा आत्यन्तिक भेद से चतुर्विध है । जो प्रतिदिन होता हो, उसे नित्य प्रलय कहते हैं । कार्य ब्रह्म के विनाश से होने वाले को प्राकृत प्रलय कहते हैं । कार्य ब्रह्म के दिन के अवसान रूप निमित्त पाकर होने वाले को नैमित्तिक प्रलय कहते हैं तथा तत्त्वज्ञान से होने वाले प्रलय को आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं । कूर्मपुराण में प्रलय के नित्यादि चार भेद कहे गये हैं । उनमें नित्य प्रलय का अर्थ है-- निद्रा । इसे सुषुप्ति प्रलय भी कहते हैं यह निद्रावस्था समस्तकार्यप्रलयरूप होती है । फिर भी निद्रा में धर्म, अधर्म

और पूर्वानुभवों के संस्कार का आत्यन्तिक लय नहीं होता, किन्तु जैसे वृक्ष बीज में रहता है वैसे ही वे स्वकारण (अविद्या में) में स्थित रहते हैं, इसी से सुषुप्त पुरुष जगता है ।

यदि सुषुप्ति में समस्त कार्य (स्थूल और सूक्ष्म शरीर) का विलय मान लिया जाए तो निद्रित मनुष्य और मृत मनुष्य में कोई भेद नहीं रहेगा ? किन्तु यह शंका अनौचित्यपरक है, क्योंकि सुप्त मनुष्य का लिंगशरीर संस्कार रूप से यहीं रहता है और मरे हुए का लोकान्तर में चला जाता है । यही दोनों में अन्तर है । अथवा अन्तःकरण की ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति भेद से दो प्रकार की शक्तियाँ हैं । उनमें ज्ञानशक्ति विशिष्ट अन्तःकरण का सुषुप्ति में विनाश होता है, किन्तु क्रियाशक्ति विशिष्ट का नहीं । अतः प्राणादि की स्थिति बनी रहती है । स्थूल शरीर का रहना मृत तथा सुषुप्त दोनों में बराबर है । श्रुति बताती है कि 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न किञ्चन वेद' - 'प्राज्ञ' आत्मा के साथ तादात्म्य को पाया हुआ यह जीव कुछ भी नहीं जानता । तस्मात् निद्रा दैनन्दिन प्रलय है ।

सुषुप्ति प्रलय के अनन्तर प्राकृत प्रलय का प्रसंग क्रमशः प्रस्तुत होता है । प्राकृत प्रलय का अर्थ है कि कार्यब्रह्म (हिरण्यगर्भ) के विनाश से समस्त कार्यों का नाश । सुषुप्ति में कार्यब्रह्म का विनाश नहीं होता और प्राकृत प्रलय में कार्यब्रह्म का भी विनाश हो जाता है । यही दोनों में भेद है । ध्यातव्य है कि बाध अधिष्ठान तत्त्व के साक्षात्कार से हुआ करता है, अन्यथा तीनों लोकों की प्रकृति चैतन्य के आश्रित माया है । इसलिए उसी 'माया' में समस्त कार्यों का विलय होता है । इसी से इसे प्राकृत प्रलय कहते हैं ।

परिभाषाकार प्राकृत प्रलय के अनन्तर नैमित्तिक का निरूपण करते हैं । कृत, त्रेता, द्वापर और कलि-इन चार युगों को चतुर्युग कहते हैं । हजार बार

चतुर्युग के बीतने पर ब्रह्मदेव {हिरण्यगर्भ} का एक दिन होता है और उतनी बड़ी रात्रि भी होती है । दिन में सृष्टि तथा रात में प्रलय हुआ करती है । ब्रह्मा के दिवस का अन्त ही त्रैलोक्य विनाश में निमित्त पड़ता है, इसलिए इसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं । नैमित्तिक प्रलय में विश्वस्रष्टा को अनन्त आसन पर सोना बताया गया है ।

नैमित्तिक प्रलय के निरूपण के पश्चात् चतुर्थ प्रलय आत्यन्तिक का निरूपण अपेक्षित है । ब्रह्म साक्षात्कार से होने वाले सर्वमोक्ष को आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं । इसमें अज्ञान के सहित सम्पूर्ण कार्य का विनाश हो जाता है । वेदान्त में एक जीववाद और नाना जीववाद की मान्यता है । समस्त जीवों को एक मानने पर एक जीव के मुक्त होते ही समस्त जीवों का एकदम मुक्त होना चाहिए । परन्तु शुकनारदादिकों के मुक्त हो जाने पर भी अन्य लोगों को मुक्ति नहीं मिली । अतएव परिभाषाकार नानाजीववाद का उल्लेख करते हैं । इस मत में 'अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य ही जीव' है, और अन्त:करण अनेक हैं । अत: एक की मुक्ति से सब मुक्ति नहीं होगी । अत: नाना जीववाद में अविद्या अथवा अविद्या की अवस्थाओं को नाना मानकर एवं अन्त:करण के नानात्व से इसमें प्रतिबिम्बभूत जीव भी नाना माना गया है और इन्हें मोक्ष भी क्रमश: होता है । अर्थात् जिसकी अविद्या नष्ट हो गई, वह मुक्त हो जाता है, शेष बन्धन में रहते हैं । इस नानाजीववाद और एक जीववाद में मात्र प्रक्रिया मात्र का भेद है । 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:' इस सिद्धान्त में कोई भेद नहीं । 'सर्वे एकी भवन्ति' यह श्रुति आत्यन्तिक प्रलय में प्रमाण है । उक्त चारों प्रलयों में प्रलयत्व समान होने पर भी पहले के तीन तो कर्म की उपरामता से होते हैं, और आत्यन्तिक प्रलय तत्त्वज्ञान से होता है ।

न्याय दर्शन प्रत्येक जीवित शरीर में उपलब्ध आत्मा को परस्पर भिन्न मानता है । यह तथ्य ज्ञान आदि गुणों की एककालिक विषमता–किसी का ज्ञानी होना और किसी का नहीं– से स्पष्ट हो जाता है । हम देखते हैं कि एक ही

समय एक जीवित शरीर के माध्यम से जिस प्रकार के ज्ञान आदि की अभिव्यक्ति होती है, उससे अत्यन्त भिन्न ज्ञान आदि की अभिव्यक्ति अन्य जीवित शरीर से होती है । एक ही समय कोई रो रहा है तो कोई हंस रहा है, कोई खा रहा है तो कोई दौड़ रहा है ।

यद्यपि नाना जीववाद की अवधारणा वेदान्तपरिभाषा तथा न्याय दर्शन दोनों के निकट है । परन्तु दोनों के दृष्टिकोण में सूक्ष्म भेद भी विद्यमान है । ग्रन्थकार के अनुसार आत्मा सभी जीवों में एक ही है, परन्तु वह उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है । किन्तु न्याय और वेदान्तपरिभाषा के सिद्धान्तों का सामञ्जस्य इस रूप में हो जाता है कि नैयायिक आत्मा के दो भेद मानते हैं-- §1§ जीवात्मा और §2§ परमात्मा । जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न होता है, जबकि परमात्मा सभी शरीरों में एक ही है ।

प्रलय का निरूपण करने के पश्चात् उसके क्रम का प्रतिपादन अप्रासंगिक न होगा । भूतों की उत्पत्ति एक दूसरे से जिस क्रम में होती है उसके विपरीत क्रम से वे जगत् की प्रलयावस्था में एक दूसरे में पुनः लीन होते हैं । जैसे- उदाहरण के लिए, सीढ़ी से उतरने का क्रम सीढ़ी पर चढ़ने के क्रम का विपरीत है । इसलिए जैसे घड़ा फिर मिट्टी हो जाता है और फिर बर्फ पानी हो जाता है । अतएव वेदान्तियों द्वारा कार्य के नाश में उसके जनक के अदृष्ट का नाश ही प्रयोजक मानना औचित्यपरक है । अतः वेदान्तसिद्धान्त में सोपान आरोहण क्रम के विपरीत क्रम से अवरोहण होता है ।

इसलिए कल्पांत में पृथ्वी पुनः जल हो जाती है, जल, अग्नि हो जाता है, अग्नि वायु हो जाती है, वायु आकाश हो जाता है और आकाश ब्रह्म में पुनः लीन हो जाता है । यह भूतों के क्रमिक आविर्भाव और प्रलय के सिद्धान्त के वैज्ञानिक हेतु पर कुछ प्रकाश डालता है । ठोस पदार्थ जल में घुल जाते हैं, जल उष्णता के द्वारा भाप बन जाता है, अग्नि की लपटें वायु में शान्त हो जाती है ।

(छान्दोग्यं यदा वा अग्निरूद्वायति, वायुमेव अप्येति) वायु ऊँचाई के अनुसार अधिकाधिक विरल होकर शून्य आकाश में मिल जाता है-- यों निरीक्षण जगत् के प्रलय का क्रमिक निकाल दिया करते हैं और प्रतिकूल नया: से इसके विपरीत जगत् की उत्पत्ति का क्रमिक विकास । अतएव वेदान्तसिद्धांतानुसार सृष्टि के समय माया विशिष्ट चैतन्य से हिरण्यगर्भ का अहंकार महत्तत्त्व, उस महत्तत्त्व से जीव अहंकार, पुन: जीवाहंकार से क्रमश: आकाशादि भूतों की उत्पत्ति होती है । उससे विपरीत प्रलय में क्रम दिखलाया गया । भौतिक सभी पदार्थ पहले अपने-अपने कारण (भूतों) में लीन होते हैं । भूत एवं इन्द्रियाँ अपनी तन्मात्राओं में लीन होती हैं । इस प्रकार प्रलय पदार्थ के प्रकृति प्रत्ययशब्द के लक्षण लक्षण का निरूपण हुआ.

परिभाषाकार द्वारा निरूपित प्रलय क्रम के विरुद्ध नैयायिकों का मानना है कि प्रथम कारण का लय होता है पश्चात् कार्य का । नैयायिकों का कहना है कि घटादिकार्य का लय दो प्रकार से होता है---

(1) समवायिकारण कपालादि के नाश होने पर ।

(2) असमवायिकारण कपालसंयोग के नाश होने पर ।

उभयथा कारण के नाश से कार्य का नाश होता है । दो परमाणुओं के संयोग को द्व्यणुक का असमवायिकारण कहते हैं । उसके नाश से कार्य (द्व्यणुक) का नाश हो जाता है ।

परिभाषाकार न्यायमत में उपादान नाश को कार्यनाश का प्रयोजक मानने पर दो दोष दिखलाते हैं--(1) प्रथम कारण का लय होने पर कार्य निराधार रहेगा । मृत्तिका का लय यदि प्रथम हो जाय, तो मृत्तिकाविकासरूपघट, किसके आश्रय से रहेगा ? इसलिए कार्य का लय कारण में होता है, यही क्रम मानना चाहिए । (2) साथ ही सर्वत्र कार्यनाश का प्रयोजक एक नहीं बतलाते । कहीं समवायिकारण के नाश से कार्य का नाश मानते हैं और कहीं असमवायिकारण के नाश सेकार्य का नाश मानते हैं । इसलिए न्यायमत समीचीन नहीं है क्योंकि नैयायिकों के मत में परमाणु

नित्य होते हैं, उनका नाश न होने से तद्गत गुणों का भी नाश नहीं, और उनका नाश नहीं हुआ तो महाप्रलय कैसा ? अतएव कार्यनाश का प्रयोजक कारणनाश नहीं है । अपितु कार्य जनक अदृष्ट नाश को ही कार्यनाश का प्रयोजक मानना उचित है ।

तटस्थ लक्षण के निरूपण में ब्रह्म में जगत्कारणत्व का प्रतिपादन हुआ है, किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर ब्रह्म सप्रपञ्च हो जायेगा । यदि ब्रह्म को जगत्कारण न मानें तो ब्रह्म से जगत्सृष्टि के प्रतिपादक श्रुति वाक्यों को अप्रमाण कहना होगा । ऐसा अध्याहार करना असंगत है क्योंकि सृष्टि वाक्यों का सृष्टि प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं है, अपितु अद्वितीय ब्रह्म बताने में तात्पर्य है । अतएव 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ: '- जिससे शब्द का तात्पर्य हो वही उस शब्द का अर्थ है- इस उक्ति के अनुसार सृष्टिवाक्यों का यथाश्रुत अर्थ ग्रहण न कर तात्पर्यार्थ का ग्रहण करना चाहिए । जैसे 'विषं भुङ्क्ष्व ' वाक्य का वाच्यार्थ 'विष भक्षण कर ' है । परन्तु इस उद्दिष्ट न होकर 'शत्रुगृह में भोजन करने की अपेक्षा विष खाना अच्छा ' इस न्याय से इस वाक्य का तात्पर्यार्थ 'शत्रुगृह में भोजन मत करो ' यही लेना पड़ता है । अत: सृष्टि बतलाने में श्रुति का तात्पर्य नहीं है अपितु अद्वैत ब्रह्म प्रतिपादन में सृष्टि श्रुति का तात्पर्य है -'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' { अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा निष्प्रपञ्च {निर्विशेष} ब्रह्म का बोध कराया जाता है। इस अध्यारोप-अपवाद न्याय से निर्विशेष ब्रह्म का बोध श्रुति भगवती कराती है । अत: श्रुति वाक्य में अप्रामाण्य नहीं तथा ब्रह्म में सप्रपञ्चत्व भी नहीं है ।

ब्रह्मजिज्ञासु को ब्रह्मबोध में सृष्टि प्रतिपादित वाक्यों की उपादेयता क्या है ? यदि विश्वप्रपञ्च की रचना न कर प्रपञ्च का ब्रह्म में निषेध प्रतिपादित किया जाता तो निषिद्ध प्रपंच की ब्रह्म से अन्यत्र स्थिति की आशंका उत्पन्न होती । जैसे वायु में रूप का निषेध करने पर, उससे अन्यत्र रूप की स्थिति की आशंका होती है । अत: सृष्टि वाक्यों से 'जगत्, ब्रह्मोपादानक हैं' यह ज्ञान होने पर 'उपादान के बिना कार्य का अन्यत्र रहना असम्भव है'- इस प्रकार आशंका का निरास हो जाता है ।

'नेति-नेति' वाक्य से 'ब्रह्म से जगत्सृष्टि की कल्पना के बाद' उसमें कल्पित जगत् का मिथ्यात्व निरूपित करने पर 'प्रपंच की तुच्छता का बोध होता है । अतएव संशय, विपर्यय से रहित अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है । तात्विक महा वाक्य का अद्वैत बोधन में साक्षात् तात्पर्य है, एवं जीव, जगत् तथा ईश्वर बोधक अवान्तर वेद वाक्यों का अद्वैत ब्रह्म बोधन में परम्परया तात्पर्य है ।

प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता) के प्रतिपाद्य विषय हैं । 'वेदान्तार्थावलम्बिनी' के तात्पर्य से उक्त सभी के प्रतिपाद्य विषय वेदान्तपरिभाषा में विद्यमान हैं । इस पर छान्दोग्य उपनिषद् में-'एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः'- वर्णित सगुण ब्रह्म के प्रतिपादन से निर्विशेष ब्रह्म की स्थिति असंदिग्ध नहीं रह जाती है । इस शंका के समाधानार्थ कहा जा सकता है कि जैसे ही अद्वैत का बोध मुमुक्षुओं को हो जाये, इसी में 'ब्रह्म-बोधाय मन्दानां वेदान्तार्थावलम्बिनी' के द्वारा श्रुति का आग्रह है, प्रक्रिया में नहीं । ब्रह्मोपासना के प्रकरण में उपासना के दो प्रकार बताये गये हैं- सगुण और निर्गुण । उनमें से प्रथम उपासना में अपेक्षित गुणों का आरोप करने भर के लिए सगुणब्रह्मवाक्यों का उपयोग है । ब्रह्म में उन गुणों का अस्तित्व प्रतिपादन में नहीं । निर्गुण ब्रह्म प्रकरण में सगुणब्रह्मप्रतिपादिक वाक्यों का उपयोग केवल 'नेति-नेति' (यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं) निषेध के लिए अपेक्षित पदार्थों का संग्रह करना मात्र है । इस पद्धति से सगुण वाक्यों का अभिप्राय समझने पर ब्रह्म का निःसंदिग्ध अद्वितीयत्व सिद्ध हो जाता है । अतएव अद्वैत ब्रह्म प्रतिपादक वाक्य के साथ किसी भी श्रुति वाक्य का विरोध नहीं है ।[10]

(iv) तत्पद के वाच्य ईश्वरचैतन्य एवं प्रतिबिम्बवाद:-

परिभाषाकार द्वारा विषय परिच्छेद में निरूपित तत्पदार्थ के स्वरूप तथा तटस्थ लक्षण का तात्पर्य बताने के पश्चात् उसके बोधक आशय पर प्रकाश डालना अपेक्षित है । यद्यपि अद्वैत दर्शन में निर्गुण निर्विशेष, निरुपाधिक विशुद्ध चैतन्य ही एक मात्र सत् है, किन्तु विशुद्ध चैतन्य माया से परिच्छिन्न होकर विश्वप्रपंच की

रचना भी करता है । इसीलिए चैतन्य के अविद्या रूप माया में प्रतिबिम्ब को ईश्वर कह दिया जाता है और अन्तःकरण में उसी व्यापक चेतन के प्रतिबिम्ब को जीव ।[11.] इस विषय में 'जीव' कार्योपाधि है और 'ईश्वर' कारणोपाधि है । इसमें श्रुति प्रमाण है । अन्तःकरण माया का कार्य है और वही जीव की उपाधि होने से उसे कार्योपाधि कहा गया है तथा 'माया', जगत्कारण है और ईश्वर की उपाधि होने से 'ईश्वर' को कारणोपाधि कहा है । इस ईश्वरस्वरूपविषयक अवधारणा को वेदान्त में प्रतिबिम्बवाद कहा जाता है । इसके अनुसार जलाशय तथ्य शराबगत जल के सूर्य प्रतिबिम्ब में भेद की भाँति जीव परमेश्वर में भेद है । अविद्या रूप उपाधि के व्यापक होने से अविद्या उपाधि वाला ईश्वर भी व्यापक है । अन्तःकरण रूप उपाधि के परिच्छन्न होने से अन्तःकरण उपाधि वाले जीव में भी परिच्छिन्नता है । अतएव एक ही सूर्य के भिन्न-भिन्न स्थलों में गिरे 'प्रतिबिम्ब' जैसे अनेक होते हैं । वैसे ही ईश्वर और जीव परस्पर भिन्न होते हैं । इतना ही नहीं, अपितु जीव भी परस्पर भिन्न हैं । इस मत के अनुसार नाना जीववाद का प्रतिपादन होता है । यह मत भामतीकार वाचस्पति मिश्र का है जिन्होंने अवच्छेदवाद का प्रतिपादन किया है । भामती का कहना है कि नानात्व का केवल भ्रम है, क्योंकि उपाधिभूत माया के कारण उस अनन्त का सान्तरूप से आभास होता रहता है । प्रत्येक जीव सान्तरूप में प्रतीत होते हुए भी वास्तव में ब्रह्म से अभिन्न हैं । अविद्या रूप उपाधि को तोड़कर असीम को पा लेना ही मोक्ष है । इसी को अवच्छेदवाद कहते हैं ।[12.]

किन्तु 'तत्पद' का अवच्छेदवाद अर्थ ग्रहण करने पर विशुद्ध चैतन्य दोषग्रस्त हो जाता है । उपाधि का धर्म प्रतिबिम्ब में दीखता है । यदि परमेश्वर को भी प्रतिबिम्ब रूप ही मानें तो अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जीव में जैसे उपाधि के दोष आ जाते हैं, वैसे ही अविद्यारूप उपाधिकृत दोष परमेश्वर में भी आने लगेंगे । जैसे बृह0 उप0 की "य.आत्मानमन्तरीयमयति" इत्यादि श्रुति में कहा गया है कि ब्रह्म जीवात्मा में अन्तर्यामीरूप से अवस्थित है, यह बात जीव को अन्तःकरणोपाध्यवच्छिन्न

चैतन्य के रूप में मानने पर संभव नहीं है; क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप जीव में अनवच्छिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म अवस्थित नहीं हो सकता । जैसे घट में घटावच्छिन्न आकाश अर्थात् घटाकाश की ही वृत्ति होती है, अनवच्छिन्न आकाश की नहीं, वैसे ही अवच्छिन्न जीव में अनवच्छिन्न चैतन्य की वृत्ति संभव नहीं है । अतः अवच्छेदवाद में द्विगुणित चैतन्य की वृत्ति सम्भव न होने से अन्तर्यामिब्राह्मण की संगति नहीं होती । इसके परिणामस्वरूप ब्रह्म के सर्वज्ञत्व, सर्वनियन्तृत्व आदि की हानि होती है ।

परिभाषाकार ने अवच्छेदवाद को दोषग्रस्त पाकर विवरणकार प्रकाशात्मयति द्वारा प्रतिपादित प्रतिबिम्बवाद के माध्यम से 'तत्पद' के वाच्य को ग्रहण करने का आग्रह करते हैं । भाष्यकार शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अंशाधिकरण में जीव को परमात्मा का आभास कहा है । उनके अनुसार जीव को जलसूर्यकादि के समान परमात्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) समझना चाहिए ।[130] जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलों में प्रतिबिम्बत होकर अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है, वैसे ही यह आत्मा उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होता है । एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत में व्यवस्थित है वह एक होते हुए भी जलचन्द्र की तरह अनेक रूपों में दिखलाई पड़ता है । इसी तरह कठोपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि जैसे एक ही सूर्य घट शराव आदि के जल में प्रतिबिम्बित अनेक सा अवभासित होता है, वैसे ही सर्वदेशकालपुरुषादि में अवस्थित एक ही ज्ञान (ब्रह्म) नामरूपादि अनेक उपाधियों के कारण अनेक सा अवभासित होता है । ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की व्याख्या 'पंचपादिका' में पद्मपादाचार्य ने मायाप्रतिबिम्बितचैतन्य को ईश्वर स्वरूप न मानकर बिम्बरूप चैतन्य को ही ईश्वर मानते हैं । इनके अनुसार एक ही चैतन्य बिम्बरूप से ईश्वर और प्रतिबिम्बरूप से जीव कहा जाता है । विवरणकार मानते हैं कि प्रतिबिम्बवाद श्रुति स्मृति तथा सूत्र से समर्थित होने के कारण उपादेय है । वे कहते है कि रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव "यह श्रुति एकधाबहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" यह स्मृति तथा अतएव

चोपमा सूर्यकादिवत्" यह ब्रह्मसूत्र स्पष्टरूप से प्रतिबिम्बवाद के समर्थक हैं । चैतन्य में बिम्बत्व प्रतिबिम्बत्व उपाधि के कारण से है । दोनों औपाधिक होने पर भी उपाधि का धर्म प्रतिबिम्ब में भासता है, बिम्ब में नहीं । ठीक ऐसे ही अविद्या एवं अन्त:करण में प्रतिबिम्ब रूप जीव चैतन्य में उपाधिकृत दोष रहेंगे, बिम्ब रूप ईश्वर चैतन्य में नहीं । उसमें बिम्बत्व से भिन्न कोई धर्म नहीं है किन्तु उपाधि के अभाव में विशुद्ध चैतन्य में तो बिम्बत्व भी नहीं है । अत: बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से रहित शुद्ध चैतन्य वेदान्त का प्रतिपाद्य तथा विद्वदनुभव सिद्ध मुमुक्षुओं से अधिगम्य है ।

प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार करने में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि लोक में रूपवान् वस्तु का ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, जबकि चैतन्य के अमूर्त तथा रूपरहित होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है । इसका निराकरण करते हुए विवरणकार कहते हैं कि जैसे अमूर्त आकाश का जल में प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, वैसे ही अमूर्त ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है ।[14] प्रतिबिम्बवाद के लिए बिम्ब का मूर्तत्त्व या रूपवत्त्व आवश्यक नहीं है । अथवा यदि कोई कहता है कि रूपरहित गुण का प्रतिबिम्ब हो सकता है, किन्तु रूपरहित द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता ? यह आक्षेप निराधार है, क्योंकि वेदान्त में आत्मा को द्रव्य नहीं माना जाता है ।[15] अतएव रूपरहित आकाश द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं होता, यह स्वीकार करने की रूपरहित और अद्रव्य-ब्रह्म का रूपवत् प्रतिबिम्ब मानने में कोई दोष नहीं है । विवरण प्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य ने भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब के बोधक तत्पदार्थ का समर्थन किया है ।[16]

वेदान्तपरिभाषाकार ने विवरणकार के प्रतिबिम्बवाद का ही समर्थन किया है, क्योंकि जैसे जल में एक व्यापक रूप आकाश स्वत: रहता है और दूसरा महाकाश का प्रतिबिम्बरूप आकाश भी है, वैसे ही तनुधारी प्राणियों में भी जीव और अन्तर्यामी रूप द्विगुणित चैतन्य की उपपत्ति हो सकती है । इस प्रकार परिभाषाकार

द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य के तत्पदार्थ का विवेचन किया गया है ।[17]

(V) त्वं पदार्थ विषयक अवधारणा:-

छान्दोग्योपनिषद् के महावाक्य 'तत्त्वमसि' के तत्पदार्थ का बोधक ईश्वर चैतन्य का निरूपण किया गया. . . . , जिसके अनुसार परिभाषाकार ने प्रतिबिम्बवाद का समर्थन कर प्रतिबिम्ब जीव तथा बिम्ब ईश्वर के दृष्टिकोण को ही प्रमाण माना । तदनन्तर त्वं पदार्थ विषयक अवधारणा का निरूपण प्रासंगिक हो जाता है । त्वम् पदार्थ ही जीव है । वेदान्त-दर्शन में त्वम् पदार्थ का प्रतिपादन दो प्रकार से किया गया है— एक जीववाद तथा नाना जीववाद । जीवों का उक्त निरूपण अविद्या तथा अन्तःकरण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के आधार पर किया गया है । 'जीव एक है' यह मानने पर एक उपाधि माननी होती है और वह है अविद्या । जीव नाना हैं- यह मानने पर उपाधियाँ अनेक माननी होती है, और भिन्न-भिन्न अन्तःकरण है । इस प्रकार 'एक जीववाद' में विशुद्ध चैतन्य का अविद्या में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही जीव है । 'नानाजीववाद' में अद्वैतब्रह्म का अन्तःकरण में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही जीव है ।

किन्तु एक जीववाद पक्ष में बन्धमोक्षादि की व्यवस्था सम्भव न होने के कारण एक जीववाद श्रुति, स्मृति, भाष्य तथा उसकी शक्ति को नाना मानकर उसमें प्रतिबिम्बित जीव में नानात्व सिद्ध होता है । तथापि अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब को जीव मानकर जीव नानात्व का निरूपण परिभाषाकार ने किया है । वह जीव जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीन अवस्था वाला है । इनमें इन्द्रियजन्य ज्ञान के योग्य अवस्था को जागृत अवस्था कहते हैं । इन्द्रियजन्य ज्ञान का अर्थ है- अन्तःकरण वृत्ति । वेदान्त में ज्ञान चैतन्यरूप है । इसलिए वह अनादि होने से अजन्य है और इन्द्रियजन्य ज्ञान तो उत्पत्ति विनाशशील होता है । यदि स्वरूपज्ञान को ही इन्द्रियजन्यज्ञान कहा जाय तो वह अनादि, अनन्त होने से जागृदवस्था में खण्ड ही

न पड़ा होता । अतः अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञान शब्द का प्रयोग गौण रूप से किया गया है । ऐसे इन्द्रियजन्य अन्तःकरण की वृत्ति रूप ज्ञानवाली अवस्था को जाग्रत कहते हैं ।

अद्वैतवेदान्त में ज्ञान को स्वप्रकाश माना गया है । तो प्रश्न है कि यदि स्वरूपभूतज्ञान प्रकाशमान् है और उसी से समग्र विषयों का ज्ञान सम्भव है तो अन्तःकरण की वृत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है? इसके परिहार में कहा जाता है कि अविद्या उपहित चैतन्य जीव व्यापक होने से घटादि देश में सदा विद्यमान है, तथापि घटादि का बोध जीव को सदा इसलिए नहीं होता कि घटावच्छिन्न चैतन्य का आवरक एक अज्ञान है जिसे 'तूलाविद्या' कहते हैं ।वह शुद्ध चैतन्य को आवरण करने वाली 'मूलाविद्या' के अधीन अवस्था विशेष है । इस आवरण के कारण घट भासमान नहीं होता । इस आवरण को दूर करना ही अन्तःकरणवृत्ति का प्रयोजन है । यह 'भामती' के प्रणेता वाचस्पति मिश्र का मत है । यह आवरक अज्ञान यदि सदैव बना रहा, तो घटादि विषय का कभी बोध नहीं हो सकेगा । एतदर्थ उसको नाश करने वाले पदार्थ की आवश्यकता होती है । चूँकि अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जीव अनेक हैं । अतएव अवारक अज्ञान में किसी विषय के आकार में परिणत वृत्ति से सम्पृक्त अवस्था उस विषय से अवच्छिन्न चैतन्य को आवृत्त न करने का स्वभाव ही आवरणाभिभव है ।[18] दूसरे शब्दों में वृत्ति विशेष से जिन घटादिकों के अवारक अज्ञान का नाश हुआ होगा उन घटादिकों की ही उपलब्धि होगी, अन्य की नहीं ।

न्याय दर्शन भी मानता है कि ज्ञानों के समसंख्यक ज्ञान प्रागभाव होते हैं । ये प्रागभाव अनेक होने पर भी एक ज्ञान की उत्पत्ति से उसके एक ही प्रागभाव का विनाश होता है, अन्य सब बने रहते हुए भी विषय के ज्ञान को रोकते नहीं, वैसे ही एक ही वृत्तिज्ञान के उदय से एक अवस्था अज्ञान नष्ट होता है, अन्य अज्ञानों के रहते हुए भी विषय का अवभास होता ही है ।[19]

विषयाकार वृत्ति का प्रयोजन आवरण को दूर करना निरूपित किया गया । अन्य विचारक विषयके साथ जीव के सम्बन्ध के लिए वृत्ति का प्रतिपादन करते हैं । यह मत विवरण-प्रस्थान द्वारा स्वीकृत है । धर्मराज अध्वरीन्द्र ने वृत्ति के कार्य या प्रयोजन-सम्बन्धी प्रसंग को 'सम्बन्धार्थां' निरूपित किया है । वृत्ति द्वारा जीव तथा विषय में उत्पन्न किया जाने वाला सम्बन्ध कौन सा है ? परिभाषाकार के अनुसार यद्यपि अविद्या रूप उपाधिवाला जीव तो अपरिच्छिन्न होने से सभी वस्तुओं से स्वयं ही सर्वदा सम्बद्ध है, तब भी उसे (जीव को) विषय का बोध ('यह घट है' ऐसा कह सकने के लिए अपेक्षित ज्ञान) होने के लिए उस सामान्य-सम्बन्ध से अतिरिक्त एक विशेष सम्बन्ध की आवश्यकता है । वह है जीव चैतन्य तथा विषय में व्यंग-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध ।[20] विषयाकार वृत्ति होने पर वह सम्बन्ध होता है, इसलिए कादाचित्क है । इसमें व्यंग का अर्थ है अभिव्यक्त होने वाला । अभिव्यक्त होने का अभिप्राय है- प्रतिबिम्बित होना । व्यंजक का अर्थ है अभिव्यक्त करने वाला, किन्तु यहाँ इसका अभिप्राय है-प्रतिबिम्बग्राही होना । अतः व्यंगव्यंजकभाव सम्बन्ध जीव व विषय में होने का अर्थ हुआ- जीव चैतन्य का विषय में प्रतिबिम्बित हो जाना । जिससे जीव को विषय का ज्ञान होता है ।

चैतन्य की अभिव्यक्ति की योग्यता अन्तःकरण में स्वभाव से है, किन्तु घट-पट आदि विषय वैसे नहीं, अर्थात् मलिन द्रव्य होने के कारण ये (विषय) जीव चैतन्य का प्रतिबिम्ब धारण नहीं कर सकते । किन्तु जब घटाकारावृत्ति द्वारा घट का सम्बन्ध अन्तःकरण से होता है तब (1) वृत्ति घट की जड़ता को अभिभूत कर देती है, (2) अन्तःकरण अपने समान अपने से संयुक्त घट भी चैतन्य को अभिव्यक्त करने की योग्यता ला देता है, जैसे अस्वच्छ दीवालभी विशेष तैल आदि से युक्त हो तो उसमें प्रतिबिम्बग्रहण की योग्यता आ जाती है । इस प्रकार जीवचैतन्य-रूपी प्रकाश से सम्बन्ध होने पर विषय प्रकाशित होता है । तात्पर्य यह है कि चैतन्य व्यंग तथा विषयादि व्यंजक तभी होते हैं जब विषयाकार वृत्ति होती है । अतः ऐसे सम्बन्ध के लिए वृत्ति को मानना आवश्यक हो जाता है । इस वृत्ति

का प्रयोजन जीव से विषय का ज्ञानानुकूल सम्बन्ध कराना ही है ।

किन्तु घटादिकों की चैतन्याभिव्यंजकत्व अर्थात् विषय स्वावच्छिन्न चैतन्य को अभिव्यक्त कर सके, इसके अपरोक्ष स्थल में अन्तःकरण की वृत्ति का बहिर्गमन अपरिहार्य है, क्योंकि इस मत के अनुसार घटादिकों में चैतन्य-प्रतिबिम्बित-ग्राहित्व होना ही विषयों की अपरोक्षता है । न कि विगत अपरोक्षत्व की व्याख्या के अनुसार-'विषयस्य प्रमातृ-चैतन्य भिन्नत्वम्'- को ग्रहण किया गया है । किन्तु परोक्ष स्थल में वह्न्यादि विषय के साथ अन्तःकरण की वृत्ति का सम्बन्ध न होने के कारण वह्नि आदि विषय स्वदेश प्रदेश वाले जीव चैतन्य भाग को अभिव्यक्त नहीं कर पाते इसीलिए उन विषयों का प्रत्यक्ष भी नहीं होता; क्योंकि व्यंगव्यंजक-भाव-सम्बन्ध के लिए विषयाकार वृत्ति का होना आवश्यक है ।

अपरिच्छिन्न-जीव पक्ष में सम्बन्धार्था वृत्ति निरूपित हुई तदनन्तर परिच्छिन्न जीव पक्ष में सम्बन्धार्था वृत्ति का निरूपण अपेक्षित है । जीव अन्तःकरणोपाधिक चैतन्य है, अतः परिच्छिन्न है, अधिष्ठान या उपादान रूप से विषयों से सम्बद्ध नहीं है, अतः उसके प्रति विषय प्रकाशित नहीं है । ब्रह्म ही घटादिकों का उपादान है, अतः वह मायोपाधिक होकर समस्त घटादिकों के साथ अन्वित होता है, इसलिए वह सर्वज्ञ कहा जाता है । घटादि के अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य के साथ अभेद हुए बिना कभी भी जीव विषय भान नहीं कर सकता, क्योंकि जीव का विषय के साथ सम्बन्ध ही नहीं है । अतः घटादि विषय के अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य के साथ अभेद के लिए घटाकार वृत्ति का प्रतिपादन आवश्यक हो जाता है । इस अभेदाभिव्यक्ति का स्वरूप वेदान्तपरिभाषा तथा अप्पयदीक्षित रचित सिद्धान्तलेश-संग्रह में संगृहीत मतों के अनुसार- जैसे नाली द्वारा सरोवर व क्यारी के जल में एक होना व्यक्त है, वैसे ही विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का वृत्ति द्वारा एकीभाव होना ही अभेदाभिव्यक्ति स्पष्ट किया गया है।[21.] तात्पर्य यही है कि यद्यपि उपाधि ही उपाधियों में भेद कराती है किन्तु यदि वह एकदेशस्थ हो जाय तो उपाधिभेदक नहीं रहती । जैसे घड़ा यदि कमरे में हो तो

घड़े का आकाश तथा कमरे का आकाश पृथक् नहीं होते, अथवा एक पात्र के जल में दूसरे पात्र का जल पड़ जाय तो दो पृथक् जल नहीं रहते । अतः एक अखण्ड चैतन्य में उपाधि भेदक तभी तक होते हैं, जब तक वे भिन्न देश में हैं । अन्तःकरण शरीर में है, घटादि विषय बाहर हैं तो दोनों से उपहित चैतन्य में भी भेद हो रहा है । किन्तु जब नेत्र द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति निकल कर विषय देश में विषयाकार बन जाती है, तो वृत्ति, वृत्ति का आश्रय अन्तःकरण एवं उसके विषय घटादि, ये तीनों बाहर एक ही देश में स्थित है । ऐसी स्थिति में इन तीन उपाधियों से उपहित विषय चैतन्य, विषयाकार वृत्ति उपहित चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य में भेद नहीं रह गया । इस प्रकार अपरिच्छिन्न तथा परिच्छिन्न जीव पक्ष में सम्बन्धार्था वृत्ति का निरूपण कर जागृत अवस्था का स्वरूप स्पष्ट हुआ ।

जीव की तीन अवस्थाओं में से जागृत दशा के निरूपण के पश्चात् द्वितीय दशा स्वप्न का निरूपण प्रासंगिक हो जाता है । इन्द्रियों से अजन्य जो विषय को जानने वाली अपरोक्ष अन्तःकरण वृत्ति की अवस्था है उसे स्वप्नावस्था कहते हैं । जागृत अवस्था की तरह स्वप्नावस्था में भी हमें वर्तमान वस्तुओं का ज्ञान होता है । स्वप्न केवल 'पुनरूज्जीवित संस्कार' मात्र नहीं है, वह एक नवीन सृष्टि है जिसमें हमें प्रातिभासिक सत्ताओं का ज्ञान प्राप्त होता है । यहाँ अन्तःकरण बाह्य इन्द्रियों की सहायता लिए बिना ही स्वयं कार्य करता है । यहाँ हमारा स्थूल शरीर कार्य नहीं करता है । केवल सूक्ष्म शरीर ही कार्य करता है । वह तूलाविद्या का नामान्तर है ।

जीव की तीसरी अवस्था सुषुप्ति कहलाती है । अविद्या को विषय करने वाली अविद्या की वृत्ति वाली अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं । अविद्या को ही कारण शरीर कहते हैं । अंतःकरण के अभाव के कारण इस अवस्था में जागृत तथा स्वप्न की भाँति बाह्य वस्तुएँ प्रत्यक्ष करने को नहीं होतीं । यहाँ जीव का व्यक्तित्व तो रहता है, पर यह व्यक्तित्व अन्तःकरण द्वारा सीमित न होकर

साक्षी और अविद्या के द्वारा निर्धारित होता है । सुषुप्तावस्था में अविद्या केवल आंशिक रूप में ही कार्य करती है । अतएव सुषुप्तिदशा में होने वाले ज्ञान की प्रयोजिका, यह मूलाविद्यावृत्ति का ही नामान्तर कहा जा सकता है । सुषुप्ति में अग्रलिखित तीन चीजें पाई जाती हैं--§1§ नाम-रूप का अभाव ।§2§ व्यक्तित्व का सातत्य, §3§ आनन्द की अनुभूति, ।

वेदान्तपरिभाषा अधिकांश प्रसंग में विवरणकार प्रकाशात्मयति के निरूपण का समर्थन करती है । विवरणकार ने माया तथा अन्तःकरण के दृष्टिकोण से जीव के एकत्व तथा नानात्व का प्रतिपादन किया है । अतएव वह माया उपाधि के एक होने से एक और अन्तःकरण रूप नाना उपाधि होने के कारण अनेक माना जाता है । उक्त परम्परा के कारण ही माया उपाधि के कारण से जीव में विभुत्व है एवं अन्तःकरण उपाधि के कारण मध्यमपरिमाणत्व कहा गया है ।

न्याय-दर्शन में भी जीवात्मा नित्य, विभु, जड़, अनेक आदि के कारण ज्ञान, इच्छा आदि गुणों से सम्पन्न द्रव्य है । कोई द्रव्य यदि नित्य है तो वह या तो अणु-परिमाणवाला हो सकता है या परममहत्परिमाणवाला । इन दो विकल्पों के बीच आत्मा को अणु-परमाणु का द्रव्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर समस्त शरीर के विभिन्न अंगों के माध्यम से होने वाले सुख आदि का अनुभव आत्मा नहीं कर सकेगा ।[22] इसलिए इसे परममहत्परिणामण द्रव्य माना गया है ।

यद्यपि परिभाषाकार तथा नैयायिक दोनों के अनुसार जीव क्रमशः विभु परमाणु तथा परममहत्परिमाण प्रतिपादित किया गया है; किन्तु दोनों में अन्तर भी विद्यमान है । नैयायिकों ने आत्मा को स्वरूप से अचेतन तथा ज्ञान गुण वाला माना है ज्ञान स्वरूप नहीं । अद्वैत वेदान्त आत्मा को स्व-प्रकाश मानता है । तथा आत्मा को ज्ञान-स्वरूप बताता है । तो प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा

ज्ञानस्वरूप (अनुभवस्वरूप) है "तो मैं अनुभव करता हूँ" ऐसा अनुभवाश्रय रूप व्यवहार कैसे होता है? इसके समाधानार्थ कहा जाता है कि 'अनुभवामि' इस प्रतीति में आत्मा में अनुभव के आश्रयत्व व्यवहार तो वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को लेकर होता है । स्वरूप से आत्मा अनुभव रूप ही है । इस प्रकार त्वं पद के अर्थ जीव का स्वरूप सम्यक् रूप से निरूपित किया गया ।[23]

(vi) तत् एवं त्वं दोनों का ऐक्य:-

तत्त्वत: (चैतन्य-मात्र रूप से) तत् एवं त्वं अर्थात् ईश्वर एवं जीव में भेद नहीं है, अभेद ही है, तब भी अन्त:करण तथा विषयरूप पृथक्-पृथक् उपाधियों द्वारा वह अभेद छिपा हुआ है, व्यक्त नहीं है । श्रुतियों में भी उक्त संदर्भ में विभिन्न तथ्य विद्यमान हैं । जैसे-ऋग्वेद में 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत0), यजुर्वेद में 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह0), सामवेद में तत्त्वमसि' (छा0), अथर्ववेद में 'अयमात्माब्रह्मा' (मा0) ये चार महावाक्य आये हैं । उनका तात्पर्य रूप से प्रतिपाद्य विषय तत् त्वं पदार्थ की एकता पर बल देना ही है । किन्तु तत् एवं त्वं के निरूपण द्वारा स्पष्ट हो चुका है कि दोनों की एकता साधारणजन के लिए अग्राह्य है, मैं ईश्वर नहीं हूँ, किन्तु संसारी कर्त्ता भोक्ता जीव हूँ ।' ऐसा ईश्वर तथा जीव में स्पष्ट भेद दीख रहा है, जीवात्मा तथा परमात्मा परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि एक में अल्पज्ञत्व तथा दूसरे में सर्वज्ञत्व विद्यमान है । इसमें श्रुति तथा लौकिक प्रसंग भी उपलब्ध है । जैसे-'द्वा सुपर्णा—'(दो पक्षी) इत्यादि श्रुति से तथा 'द्वाविमौ पुरूषो लोके' (लोक में क्षर-अक्षर ऐसे दो पुरूष कहे गये हैं, उनमें सभी भूतक्षर हैं और कूटस्थ को अक्षर कहा जाता है ।") इसे गीता स्मृति में भी जीव परमेश्वर में भेद बतलाया गया है । यदि जीव का परमेश्वर से अभेद होता, तो जीव की भाँति परमेश्वर भी दीखता । परमेश्वर का निश्चय नहीं हो पाता है । अत: जीव से परमात्मा भिन्न है । इस अनुपलब्धि प्रमाण से भी जीवात्मा परमात्मा में भेद ही प्रमाणित हो रहा है । अत: उक्त सभी प्रमाणों से भेद अवगत होने के कारण 'आदित्यो यूप

यजमानः प्रस्तरः' ॥यूप, आदित्य है, प्रस्तर, यजमान है॥ आदि वाक्यों के अर्थ के समान तत्त्वमस्यादि महा वाक्य का अभेदज्ञापक अर्थ औपचारिक मानना चाहिए ।

परिभाषाकार ने अद्वैत वेदान्त का गहन अनुशीलन किया है । नव्य नैयायिक निरूपण प्रणाली में कुशलता भी प्राप्त की है । अतः तत्- त्वं की एकता प्रतिपादित करने के लिए तथा श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुभव में सामंजस्य स्थापित करने में ग्रन्थकार ने अत्यन्त प्रखर मस्तिष्क का परिचय दिया है । केवल एकता है, अनेकता नहीं है । यह कथन प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणों का उत्मूलन नहीं करता वरन् विधि निषेध-रूप वैदिक प्रमाण का भी करता है । ग्रन्थकार मानते हैं कि तात्त्विक अभेद ॥तत्त्वमसि॥ बतलाने वाली श्रुति के साथ व्यावहारिक भेद ॥मैं ईश्वर नहीं हूँ।॥ ग्राहक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विरोध कहना असंगत है । प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा अविद्या के क्षेत्र तक सीमित हैं । अनुषंगतः उनमें दोष की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, जबकि वेद इन्द्रिय अजन्य होने से निर्भ्रम है । प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ है और आगम कनिष्ठ है, अतएव ज्येष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण से आगम प्रमाण का ही अपलाप मानना चाहिए । यह निष्कर्ष भी असंगत है, क्योंकि 'इदं रजतं' यह ज्ञान पहले तथा 'भेदं रजतं शुक्तिरियं' ये ज्ञान पीछे होते हैं । रजत ज्ञान ज्येष्ठ है और रजत निषेध एवं शुक्ति ज्ञान कनिष्ठ है । तथापि शुक्ति ज्ञान से रजतज्ञान का ही बाध होता है । अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण से 'तत्त्वमस्यादि ॥अभेदप्रतिपादक॥ के बोध का अपलाप मानना तर्कसंगत नहीं है ।

ग्रन्थकार का कहना है कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य का 'द्वासुपर्णा' आदि मुण्डक श्रुति से जीव, ईश्वर में भेद सिद्ध करना अनौचित्यपरक है । क्योंकि तत्पर वाक्य और अतत्परवाक्यों में से तत्पर वाक्य हमेशा प्रबल होता है । अतएव ॥वाच्यार्थ, गौण, अन्य प्रयोजनार्थप्रधान॥ वाक्यों का अर्थ उनसे मिलता-जुलता करना होना होता है । प्रस्तुत वाक्य लोकप्रसिद्ध भेद का अनुवादक है । तत्त्वमसि वाक्य जिस संदर्भ में प्रतिपादित किया गया है, वे भेदानुवादी न होकर, अपितु महावाक्य के

तत् एवं त्वं पदार्थ बोधन के वाहक हैं । साथ ही जीवात्मा तथा परमात्मा में विरूद्ध धर्माश्रयत्व भी नहीं समझना चाहिए । जैसे शीतल जल, उपाधि के योग से उष्णता का आश्रय होता है, वैसे ही स्वभावत: निर्गुण जीव अन्त:करणादिक उपाधि के द्वारा कर्तृत्वादिकों का आश्रय होता है- यह अनुभव सभी को है । अतएव ब्रह्मात्मैक्य में विरूद्ध धर्म के आश्रयत्व की उपपत्ति औपाधिक है । अग्नि की उष्णता जैसे जल में प्रतीत होती है ।[24] अद्वैत वेदान्त में एकमात्र तत्त्व असंग आत्मा है । तो प्रश्न उठता है कि कर्तृत्व का आरोप आत्मा में कैसे हो सकेगा? इसके समाधानार्थ कहा जाता है कि आरोप्य वस्तु का संस्कार प्रमाजन्य हो, अप्रमा जन्य हो या उभय साधारण हो, इसमें कोई आग्रह नहीं है । आरोप्य वस्तु का अनुभवजन्य संस्कार मात्र को कल्पना में कारण मानने में लाघव है एवं प्रमाज्ञान जन्य संस्कार को कल्पना का हेतु मानने में गौरव है । अत: आत्मा में अन्त:करणादि के सम्बन्ध से कर्तृत्व प्रतीत होता है, वह अन्त:करण का ही धर्म है, असंग आत्मा का नहीं, क्यों कि आत्मा निर्विकार कूटस्थरूप है । यह ठीक है कि निर्विकार आत्मा में कर्तृत्व के आरोप का हेतु इससे पूर्व कर्तृत्व अनुभवजन्य संस्कार है, किन्तु सर्वप्रथम कर्तृत्वारोप के प्रतिपादन की समस्या उठती है? इसका परिहार जीव के सम्बन्ध में कर्तृत्वादि अध्यास की परम्परा को बीजांकुर न्याय से अनादि मानकर किया जाता है ।

अनुपलब्धि प्रमाण से भी विरोध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्धकार से आवृत घट की अनुपलब्धि होने पर भी उसके अभाव का निश्चय नहीं हो पाता, वैसे ही तत्त्वज्ञानरहित व्यक्ति को जीवात्मा परमात्मा के अभेद का अनुभव न होने पर उस अभेद के अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता । इस प्रकार उपर्युक्त आरोपों का परिहार कर देने पर महावाक्य से तत्-त्वं की एकता का निश्चय हो जाता है ।

ध्यातव्य है कि यदि तत् पद के वाच्य सर्वज्ञ तथा त्वं पद के वाच्य अज्ञानी में {परमात्मा-जीवात्मा} एकता औचित्यपरक न लगे, तो भी दोनों के वाच्यार्थ में औपाधिक धर्म का परित्यागकर भाग त्यागलक्षणा से लक्षित केवल लक्ष्य स्वरूप चैतन्य

मात्र का अभेद तो सम्भव ही है । अतएव 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में जिस प्रकार तत्कालावच्छिन्न और एतत्कालावच्छिन्न विशेषणों को त्यागकर देवदत्त मात्र का ऐक्य बताया जाता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य का ऐक्यावगाही अर्थ समझना चाहिए । यही वेदान्तपरिभाषा के प्रमाणेतर पदार्थ का आशय भी है ।[25]

वेदान्तपरिभाषा के प्रमाणेतर पदार्थ- तत्पद के वाच्य ईश्वर, सृष्टि-प्रक्रिया एवं प्रलय विषयक विचार, त्वं पद के वाच्य जीव, तत् एवं त्वं पदों का ऐक्य- इत्यादि-पर विचार करते हुए उसी संदर्भ में नैयायिक दृष्टिकोण को भी स्पष्ट किया गया है । तदनन्तर दोनों पक्षों के साम्य एवं वैषम्य पर प्रकाश भी डाला गया है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्तपरिभाषा 'वेदान्तार्थावलम्बिनी' होने के कारण उसके प्रमाणेतर पदार्थ विषयक मत श्रुति पर आधारित तो अवश्य हैं । किन्तु शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में वेदान्तपरिभाषा की निरूपणात्मक प्रणाली अपनी पृथक् स्थान रखती है । परिभाषाकार वेदान्त तथा न्याय दोनों दर्शनों के मूर्धन्य विद्वान हैं । अतएव उनके ग्रन्थों में वेदान्त के प्रतिपाद्य विषय तथा नैयायिक प्रणाली का अनुस्यूत होना नैसर्गिकता का प्रतिमान है ।

वेदान्तपरिभाषा के प्रमाणेतर पदार्थ पर न्याय प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में वेदान्तपरिभाषा के तत्पद के वाच्य ईश्वर तथा न्याय दर्शन के ईश्वर का उल्लेख प्रासंगिक होगा । ग्रन्थकार के अनुसार तत्पद का वाच्य ईश्वर जगत्कर्तृत्व रूप से तटस्थ लक्षण का द्योतक है । तत्पदार्थ 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'- अर्थात् मैं बहुत होऊँ एवं प्रजा उत्पन्न करूँ ऐसी इच्छा उसने की (तै0)- इस प्रकार संकल्प करता है । तो न्याय दर्शन का ईश्वर भी 'संकल्प इति प्रयत्नः'[26] से जगत् का निर्माण करता है । पुनः महेश्वर की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होते हैं ।[27] यद्यपि दोनों दर्शनों में जगत्कर्त्ता को ज्ञान, चिकीर्षा कृति से युक्त माना गया है । परन्तु

वेदान्ती तत्पदार्थ के कर्तृत्व तथा नैयायिकों के परमेश्वर के कर्तृत्व में सूक्ष्म अंतर यह है कि वेदान्त में कर्तृत्व का अभिप्राय उपादान कारणत्व से है, जबकि न्यायदर्शन में कर्तृत्व को संयोजक अर्थ में ग्रहण किया गया है, उपादानों के सृष्टा के अर्थ में नहीं ।

इसी प्रकार परिभाषाकार मानते हैं कि सृष्टि-प्रक्रिया के प्रारम्भ में परमेश्वर अनन्त प्राणियों के कर्मसंस्कार से सहकृत होता है । नैयायिक उदयन के अनुसार ईश्वर भी 'अदृष्ट' के माध्यम हमें हमारे कर्मानुसार जीवन प्रदान करता है । निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि दोनों दर्शनों के अनुसार सृष्टि जीवों के कर्मसंस्कार की अभिव्यक्ति है ।

इसके अतिरिक्त परिभाषाकार प्रतिबिम्बवाद का समर्थन करते हुए नाना जीवपाद में विश्वास करते हैं । न्याय दर्शन भी नाना जीववाद का अनुयायी है । दोनों दर्शनों में विषमता की दृष्टि से कहा जा सकता है कि न्यायदर्शन परमाणुकारणवाद का समर्थक है । जबकि परिभाषाकार परमाणुकारणवाद का खण्डन करते हैं और कहते हैं कि द्रव्यों के परमाणु नित्य हैं तो महाप्रलय में ये विद्यमान रहेंगे जबकि प्रलय में ब्रह्म के अतिरिक्त किसी का अस्तित्व अनुपस्थित रहता है । परिभाषाकार परमेश्वर से सर्वप्रथम आकाश महाभूत का अविर्भाव बतलाते हैं । जबकि नैयायिक पहले वायु के परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति मानते हैं । प्रलय क्रम में भी परस्पर दोनों दर्शनों में वैषम्यता विद्यमान है । परिभाषाकार कार्य के नाश में उसके जनक के अदृष्ट का नाश ही प्रयोजक मानते हैं, जबकि नैयायिकों के अनुसार प्रथम कारण लय होता है तत्पश्चात् कार्य का ।

वेदान्तपरिभाषाके प्रमाणेतर पदार्थ के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यदि न्यायदर्शन के प्रमेय का साध्य निःश्रेयस की प्राप्ति है, तो वेदान्तपरिभाषा अपना ध्येय अद्वैत वेदान्त के प्रतिपाद्य 'तत्त्वमसि' का जनसाधारण को बोधगम्य कराना निश्चित करती है, क्योंकि वेदान्ती एवं नैयायिक धर्मराज मानते कि वादे वादे जायते तत्त्वबोधः । अतएव परिभाषाकार अपने साध्य की प्राप्ति

परम्परागत साधन से हटकर नैयायिक प्रणाली अपनाने को अधीर दिखायी पड़ते है; क्योंकि जैसे ही अद्वैत का बोध मुमुक्षुओं को हो, इसी में ग्रन्थकार का आग्रह है, प्रक्रिया में नहीं ।

टिप्पणी:-

1- वे० प० प्रत्यक्ष परिच्छेद पंचम श्लोक, बोधाय मन्दानां वेदान्तार्थावलम्बिनी ।

2- ध्यातव्य है कि वेदान्त प्रतिपादित षड् सशेष प्रमाण हैं तथा एक अशेष प्रमाण है । सर्वत्र ज्ञान का एक ही लक्षण है । ज्ञान वस्तुतन्त्र है{ज्ञानं वस्तुतन्त्रम्} । वह ज्ञापकहै, कारक नहीं है । वह किसी सत् का निवर्तक नहीं है । किन्तु वह अज्ञान का निवर्तक है । संक्षेप में यही सशेष तथा अशेष दोनों प्रमाणों की विशेषता है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वेदान्ती पारमार्थिक ज्ञान का दूसरा लक्षण करते हैं और व्यावहारिक ज्ञान का दूसरा । दोनों में केवल यह भेद है कि जहाँ पारमार्थिक ज्ञान या अशेष समस्त अविद्या का निवर्तक है, वहाँ सशेष या व्यावहारिक ज्ञान केवल आंशिक अविद्या का निवर्तक है । जैसे-एक दीपक थोड़े अन्धकार का निवर्तक है और सूर्य समस्त अन्धकार का निवर्तक है । वैसे ही व्यावहारिक ज्ञान अल्प अज्ञान को दूर करता है और पारमार्थिक ज्ञान समस्त अज्ञान को ।

3- हरिभद्र, षड्दर्शन-समुच्चय {गुणरत्न की टीका के सहित एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता}, अध्याय- 1,

4- उदयन- न्यायकुसुमाञ्जलि {मूल ग्रन्थ, चौखम्भा, काउल कृत अंग्रेजी अनुवाद के सहित} ।

5- "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापः अभ्यः पृथिवी" {तै०, 3. 1} तथा वेदान्तपरिभाषा पर जिज्ञासु की टीका, पृ०350

6- वे० प० पर टीका, जिज्ञासु, पृ०-35।
शब्दस्याकाशमात्रगुणत्वम्, वा वादावपि तदुपलम्भात् ।
न चासौ भ्रमः? बाधकाभावात् ।

7- देखिए, वेदान्तपरिभाषा-जिज्ञासु की टीका पृ०-350-364

8- तस्माद् यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा ।
तत्तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथवेतरत् ।।

कुमारिलभट्ट-श्लोक वा० {चौखम्भा संस्करण} पृ०- 404.

21- कुल्याद्वारा तडागकेदारसलिलयोरिव विषयान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्ययोर्वृत्तिद्वारा एकीभावोऽभेदाभिव्यक्तिः ।

सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ0- 152.

22- अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः, इत्यनुमानम्, चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) निर्णयसागर, प्रेस, बम्बई 1931.

23- देखिए- वेदान्तपरिभाषा-जिज्ञासु की टीका पृ0- 400.

24- देखिए- वेदान्तपरिभाषा वही जिज्ञासु की टीका पृ0 400-408.

25- वही, पृ0 408.

26- न्यायमंजरी भा0 1, पृ0 185, संकल्पे इति प्रयत्नः ।

27- प्रशस्तपाद-पदार्थधर्म संग्रह (चौखम्बा), पृ0- 122-132.

पंचम अध्याय

प्रमा तथा भ्रम

प्रमा तथा भ्रम

§1§ ज्ञान का स्वरूप तथा वर्गीकरण:-

अभी तक हमने वेदान्त तथा न्याय दर्शनों के आचार्य परम्परा एवं साहित्य, वेदान्तपरिभाषा के ग्रन्थकार प्रमाणमीमांसा, प्रमाणेतर पदार्थ का विवेचन किया । इसके पश्चात् अब हम प्रमा तथा भ्रम से सम्बन्धित दोनों दर्शनों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे ।

प्रमा और भ्रम दोनों ज्ञान बोधक शब्द है । एक यथार्थता का द्योतक है तथा दूसरा अयथार्थता का । अब प्रश्न है कि यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान में क्या अंतर है? ज्ञान के यथार्थ होने की क्या पहचान है? प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण से हम क्या समझते हैं? इत्यादि । इस अध्याय में हम इन्हीं विषयों पर मुख्यत: धर्मराज अध्वरीन्द्र तथा नैयायिक मान्यताओं का साक्षात्कार करेंगे ।

'ज्ञान' शब्द का प्रयोग व्यापक और संकुचित-दो अर्थों में किया जा सकता है । व्यापक अर्थ में यह यथार्थ तथा अयथार्थ ज्ञान-दोनों का ही बोधक होता है । जैसे-रात में किसी खम्भे को देखकर एक व्यक्ति उसे मनुष्य समझ लेता है और दूसरा उसे खम्भा ही समझता है । यहाँ ज्ञान तो दोनों को ही हो रहा है, पर एक का ज्ञान यथार्थ होता है और दूसरे का अयथार्थ । अत: व्यापक अर्थ में यथार्थ या अयथार्थ-दोनों ही ज्ञान कहे जाते हैं । किन्तु संकुचित अर्थ में 'ज्ञान' से केवल 'यथार्थ ज्ञान' का ही आशय ग्रहण किया जाता है । जैसे- यदि कोई व्यक्ति किसी घटना के सम्बन्ध में असत्य बातें बतलाता है, तो हम कह सकते हैं कि उसे उस घटना का 'ज्ञान' नहीं है । यहाँ ज्ञान का अर्थ है सत्य या यथार्थ ज्ञान, क्योंकि असत्य या अयथार्थ ज्ञान तो उसे उस समय है ही ।

न्याय- दर्शन में ज्ञान का व्यापक अर्थ ही ग्रहण किया जाता है । इस 'ज्ञान' या बुद्धि का स्वभाव है, किसी वस्तु को प्रकाशित करना ।[1] इसीलिए न्यायसूत्र

में स्पष्ट कहा गया है कि बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान- इन शब्दों के अर्थों में कोई अन्तर नहीं है ।[2] ये एकार्थक हैं । हम जो भी काम करते हैं, अपने सही या गलत ज्ञान के अनुसार करते हैं । इसलिए ज्ञान को व्यवहारों का हेतु या कारण माना गया है ।[3]

वेदान्त में ज्ञान को व्यापक अर्थ में ग्रहण न करके संकुचित संदर्भ में ही इष्ट है, क्योंकि वेदान्ती परम्परा में ज्ञान का अर्थ चित-तत्त्व है । वेदान्त दर्शन में ज्ञान- चैतन्य, ब्रह्म, आत्मा, चिति, संविद्, भान इत्यादि शब्द समानार्थक हैं । वेदान्त में ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है ।[4] जबकि न्याय-दर्शन में ज्ञान आत्मा के विशेष गुणों में से एक है ।[5] सांख्य दर्शन में ज्ञान केवल बुद्धि का व्यापार या धर्म है ।[6] मीमांसादर्शन में ज्ञान एक मानसी क्रिया है ।[7]

व्यवहार के अनुरोध से वेदान्त में ज्ञान द्विविध माना गया है- नित्य व अनित्य अथवा स्वरूपात्मक तथा वृत्तिज्ञान । उनमें से प्रथम ही ज्ञान का वास्तविक अर्थ है, वही सर्वथा निरपेक्ष होने से स्वप्रकाश है[8] अवेद्य विषय रूप से अग्राह्य होते हुए भी जो अपरोक्ष व्यवहार के योग्य हो वही स्व-प्रकाश है । अखण्ड है, एक ही है । दूसरा वृत्तिज्ञान-घट, पट आदि पृथक्-पृथक् विषयों का उत्पन्न व समाप्त होता रहने वाला ज्ञान है । वास्तव में इसमें ज्ञान शब्द का प्रयोग औपचारिक ही है, ऐसा कहा गया है ।[9] इस उपचारित अर्थ को लेकर ही एक अखण्ड अदृश्य अधिष्ठान पर ये असंख्य पृथक्-पृथक् छोटी-बड़ी वस्तुएँ अध्यस्त होती हुई ज्ञेय बनती हैं- यह अद्वैत सिद्धान्त है ।

॥ii॥ प्रमा का स्वरूप:-

न्याय दर्शन तथा वेदान्तपरिभाषा के अनुसार 'ज्ञान' के अर्थ को स्पष्ट करने के पश्चात् 'प्रमा' के स्वरूप का निरूपण प्रासंगिक होगा । नैयायिकों के अनुसार प्रमा 'यथार्थानुभव' है [10] जो सदैव सत्य होता है । अर्थात् यथा वस्तु तथा ज्ञान है ।

इसलिए यह संदेह, त्रुटि, स्मृति तथा तर्क से भिन्न है । महर्षि वात्स्यायन का कहना है कि वस्तु की यथार्थ प्रतीति ही प्रमा है । जैसे—रज्जु का रज्जु रूप में और सर्प का सर्प रूप में ज्ञान प्रमा है । गौतम 'अव्यभिचारी' ज्ञान को प्रमा कहते हैं ।[11.] जयन्त भट्ट ने भी प्रमा की परिभाषा 'असंदिग्ध तथा अव्यभिचारी अर्थोपलब्धि के रूप' में की है । इसी बात को नव्य-न्याय के प्रवर्त्तक गंगेश उपाध्याय की कृति 'तत्त्व-चिन्तामणि' के प्रत्यक्ष प्रकरण में इस प्रकार कहा गया है—'जहाँ जो है वहाँ उसका अनुभव प्रमा है।[12.] मीमांसक आचार्य कुमारिल ने 'प्रमा और प्रमाण' में भेद नहीं किया है । उन्होंने अपने विवेचन में संदेह तथा बाध से रहित नवीन अर्थ के ज्ञान को प्रमा माना है । अर्थात् कोई भी संशयभिन्न ज्ञान यदि आगे या पीछे के दूसरे ज्ञान से विसंवाद अर्थात् अपलाप नहीं होता है, तो वह ज्ञान अवश्य ही प्रमा है । पार्थसारथि मिश्र ने प्रमा या यथार्थ ज्ञान को अनधिगत ज्ञान कहा है ।[13.]

वेदान्तपरिभाषा में प्रमा के साथ कुछ विशेष अर्थ सम्पृक्त है, जिसका वाचक होकर प्रमा शब्द 'ज्ञान' की अपेक्षा संकुचित अर्थ वाला हो जाता है । वह है प्रमा शब्द से सूचित ज्ञान का यथार्थ होना, अबाधित तथा अनधिगत विषय वाला होना ।

यथार्थ ज्ञान स्मृति तथा अनुभव भेद से दो प्रकार का है । किसी ने घट को घट समझा तो यह घट का यथार्थ ज्ञान माना जायेगा । इसी को प्रमा भी कहते है । इसी ज्ञान से मन में संस्कार पैदा हुआ और उससे कालान्तर में घट की स्मृति हुई, यथार्थ होने से इस स्मृति को भी प्रमा कहते हैं । अतः स्मृति को प्रमा के अन्तर्गत मानना अथवा नहीं मानना इस विषय में मतभेद है । जिसने स्मृति को प्रमा नहीं माना है, उसके मत में प्रमा का लक्षण अनधिगत तथा अबाधित किया गया है ।[14.] जो पहले से ज्ञात न हो और जिसका कभी अपलाप भी न होता हो, वैसे पदार्थ का ज्ञान प्रमा रूप माना जायेगा । यथा व्यवहार दशा में पहले से अज्ञात घट का अभी-अभी जो ज्ञान हुआ वह प्रमा रूप है । यह लक्षण स्मृति में घटित न होने के कारण केवल अनुभवात्मक प्रमा का निर्दोष लक्षण परिभाषाकार ने किया है ।

जिसने स्मृति को भी प्रमा माना है, उसके अनुसार उत्तर ज्ञान से बाधित न होने वाले विषय का ज्ञान भी प्रमा रूप ही होता है ।[15] यह लक्षण अनुभव तथा स्मृति इन दोनों ज्ञानों में समान रूप से घटित होता है । इसलिए परिभाषाकार प्रमा का यह स्मृति-साधारण लक्षण किया है । प्रथमतः 'अयं घटः' यह घट है ऐसा ज्ञान होता है और उसका किसी उत्तर ज्ञान से अपलाप भी नहीं होता । उस ज्ञान से अन्तःकरण में सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न होते हैं । उन संस्कारों से आगे चलकर कुछ समय के अनन्तर उसी घट का स्मरण होता है।यह स्मृति प्रमा है । इसी प्रकार अबाधित घट का ज्ञान भी प्रमा है । इसके विपरीत शुक्ति में रजत का ज्ञान होने पर अथवा रज्जु में सर्प का ज्ञान होने पर इसे प्रमा नहीं माना जा सकता है । यथा शुक्ति में रजत, जो भ्रम से दिखायी पड़ता है उसका शुक्ति ज्ञान से अपलाप हो जाता है । बाध का अभिप्राय मिथ्यात्व निश्चय है । किसी वस्तु का नाश होना एक बात है और अपलाप होना दूसरी बात है ।

(iii)धारावाहिक ज्ञान का प्रमात्व निरूपणः-

प्रमा के स्वरूप के निरूपण के साथ ही अनुषंगतः एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि धारावाहिक ज्ञान को प्रामाणिक माना जाय या नहीं? धारावाहिक ज्ञान में पूर्व क्षण-विशिष्ट विषय ही परवर्त्ती-क्षण के ज्ञान का विषय नहीं होता, अपितु नवीन होता है । जैसे 'अयं घटः' (यह घट है) यह ज्ञान हुआ । द्वितीय क्षण में पुनः "अयं घटः" तृतीय क्षण में "अयं घटः" यह ज्ञान हुआ । अतः किसी विषय के प्रथम क्षण का ज्ञान वही नहीं है जो उसके अन्य क्षणों का ज्ञान होता है । चूँकि प्रत्येक ज्ञान काल में घटित होता है, इसलिए प्रत्येक ज्ञान काल से विशिष्ट होता है । इस दृष्टि से धारावाहिक ज्ञान नवीन होता है । ध्यातव्य है कि धारावाहिक ज्ञान में विभिन्न क्षणों का ज्ञान पूर्ववर्ती अनुभवों की पुनरभिव्यक्ति नहीं है । इसलिए धारावाहिक ज्ञान स्मृति से भिन्न है । स्मृति की वैधता पूर्वानुभूत तथ्यों की अनुरूपता पर निर्भर है । किन्तु धारावाहिक ज्ञान की वैधता भूतकालीन अनुभूतियों के संस्कारों से स्वतंत्र होती है

धारावाहिक ज्ञान के विवेचन से स्पष्ट होता है कि जो सम्प्रदाय प्रमा के लक्षण में अनधिगत पद का निवेश करते हैं उनके लिए धारावाहिक ज्ञान का प्रमात्व स्वीकार करने में कोई प्रधान समस्या नहीं है । नैयायिक अनधिगतता को ज्ञान के प्रमात्व के लिए अनिवार्य नहीं मानते हैं । नैयायिकों के अनुसार धारावाहिक ज्ञान में प्रथम क्षण तो नवीन होता है, किन्तु उस विषय के परवर्त्ती क्षणों के ज्ञान में कोई नवीनता नहीं होती है । वाचस्पति मिश्र ने अपने 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' में कहा है कि धारावाहिक ज्ञान का प्रामाण्य लोक सिद्ध है, किन्तु सूक्ष्म काल भेद से उस ज्ञान को अनधिगत विषयक मानकर उसे प्रामाणिक मानना युक्त नहीं, क्योंकि वे कालभेद से अत्यन्त सूक्ष्म हैं ।

भट्ट मतानुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि विद्वान सूक्ष्म कालभेद का विचार करते हुए धारावाहिक ज्ञान का प्रमात्व मानते हैं । शास्त्र दीपिका में लिखा है कि-क्या यहाँ घड़ा था या है? ऐसा प्रश्न करने पर अभी इसी क्षण मैंने देखा था ऐसा उत्तर दिया जाता है । अतएव कालभेद को मान लेने पर धारावाहिक ज्ञानों में भी 'अनधिगतविषयकत्व' सिद्ध हो जाता है ।[16]

धर्मराज अध्वरीन्द्र ने भी वेदान्तपरिभाषा में धारावाहिक ज्ञान के प्रमात्व का समर्थन किया है । किन्तु उनकी उपपादन प्रणाली नैयायिकों के समान ही है । इनके अनुसार वेदान्त में धारावाहिक स्थल में ज्ञान का भेद नहीं माना जाता, क्योंकि वहाँ पर तदाकार अन्तःकरण वृत्ति तो एक ही रहती है । अतः उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य रूप ज्ञान भी एक ही है । वेदान्त में भी काल-पदार्थ को इन्द्रियवेद्य माना गया है और काल प्रत्येक क्षण के भेद से भिन्न होता है । उसी से विशिष्ट विषय भी भिन्न होता रहता है, इसलिए किसी विषय के ज्ञान के संदर्भ में द्वितीय, तृतीय इत्यादि क्षणों में नवीनता का प्रश्न समीचीन नहीं है । अतः धारावाहिक बुद्धि-स्थल में अनधिगतत्व उत्पन्न ही है ।[17] इससे स्पष्ट है कि धर्मराज अध्वरीन्द्र धारावाहिक ज्ञान का प्रमात्व काल के प्रत्यक्ष से तथा ज्ञान-अभेदता से प्रतिपादित करते हैं जबकि

नैयायिक कालभेद के प्रत्यक्ष की स्पष्ट व्याख्या नहीं करते हैं ।

प्रमा के स्वरूप तथा लक्षण के निरूपण के पश्चात् इस प्रमा की उत्पत्ति का प्रश्न प्रकृत: प्रस्तुत हो जाता है? प्रमा की उत्पत्ति प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण पर निर्भर है । नैयायिक आत्मा, प्रमेय तथा ज्ञान को पृथक्-पृथक् मानते हैं । न्याय मत में ज्ञान चेतना या आत्मा का एक गुण है । अत: चैतन्य आत्मा का स्वरूप नहीं है । आचार्य कुमारिल ने भी ज्ञान को आत्मा का कर्मतथा आत्मा को ज्ञान का कर्त्ता माना है । अत: नैयायिकों ने ज्ञान को आत्मा का गुण तथा मीमांसकों ने उसे आत्मा का धर्म कहा है । अत: यहाँ भ्रान्ति हो सकती है कि दोनों मतों में कोई भेद नहीं है, जबकि दोनों में भेद है । उदाहरणार्थ- लालिमा अग्नि का गुण है, किन्तु ज्वलनशीलता उसका धर्म है जो उपयुक्त परिवेश पर निर्भर है ।[18.]

वेदान्त के अनुसार ज्ञान चेतन ब्रह्म का ही प्रकार है । अत: निरूपाधिक चैतन्य एक होता हुआ भी उपाधि भेद से प्रमातृ-चैतन्य, प्रमाण-चैतन्य एवं विषय-चैतन्य रूप से तीन प्रकार का माना गया है । घटादि विषय है । इन घटादि विषयों से अवच्छिन्न चैतन्य को विषय-चैतन्य कहा जाता है, अन्त:करण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण-चैतन्य है तथा अन्त:करण से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ-चैतन्य है ।[19.] इस प्रकार से प्रमाण, प्रमेय तथा प्रमाता का क्रम बन जाता है । इन तीनों में एक ही चैतन्य विभिन्न प्रकार से अवच्छिन्न होने के कारण प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता आदि का भेद बन जाता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि अद्वैत वेदान्त के मत में ब्रह्मतत्त्व या आत्मतत्त्व ही परमार्थ सत्य है । फिर भी वह सत्ता के अन्य पहलुओं की उपेक्षा नहीं कर सकता है । प्रत्ययवादी अथवा ब्रह्मवादी होने के बावजूद वह व्यावहारिक बाह्य जगत् का सर्वथा निषेध नहीं कर सकता । अत: व्यवहार दशा में वेदान्त को भी व्यवहार की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि नैयायिक वास्तववादी दर्शन के लिए । अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि एक तो व्यवहार या दृश्य जगत् को ही सब कुछ मान बैठता है जबकि वेदान्त कहता है कि यही परमसत्य व तत्त्व नहीं है, वह तो इससे भी परे है ।

निष्कर्षतः प्रमा के प्रसंग में कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दार्शनिक 'अबाधित्व' किसी न किसी रूप में 'प्रमा' का व्यावर्त्तक लक्षण मानते हैं । उनके अनुसार प्रमा अबाधित विषय का ज्ञान है । इस दृष्टि से यथार्थ विषय को प्रकाशित करना ही ज्ञान का प्रमात्व है ।[20] भाट्टमीमांसक प्रमा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए 'कारणदोषबाधकज्ञानरहितम्' पदों का प्रयोग करते हैं । यदि कोई ज्ञान कारण दोष से रहित हो तभी वह यथार्थ और वस्तुनिष्ठ निश्चितता से युक्त हो सकता है । उल्लेखनीय है कि भाट्टमीमांसक 'कारणदोषरहितम्' पर विशेष बल देते हैं, यथार्थता पर नहीं । वस्तुतः जहाँ ज्ञान कारणदोष से रहित होता है, वहाँ ज्ञान में स्वाभाविक रूप से यथार्थता उपपन्न हो जाती है । किन्तु यदि यथार्थता (सत्यता) को प्रमा का लक्षण मान लिया जाय तो उसका भी निर्धारण अबाधितत्व के द्वारा हीसम्भव होगा इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान के कारणदोष से रहित और अबाधित होने से उसमें यथार्थता: स्वतः उत्पन्न हो जाती है । चूँकि कारणदोष से रहित होना किसी ज्ञान के अबाधित होने के लिए आवश्यक है, इसलिए मीमांसकों ने इसे प्रमा की एक प्रधान शर्त के रूप में निवेश किया है ।

नव्य- नैयायिक गंगेश उपाध्याय ने प्रमा के लक्षण में 'तद्वति तत्प्रकारकत्वानुभव' को प्रस्तुत किया है । इस परिभाषा में दो पद महत्त्वपूर्ण हैं । इनमें से 'तद्वति' अंश 'तात्त्विक स्थिति' और 'तत्प्रकारकत्वानुभव' अंश ज्ञानात्मक स्थिति को निर्दिष्ट करता है । यदि ज्ञानात्मक स्थिति तात्त्विक स्थिति की संवादी हो तो इसे प्रमा कहा जाता है । यदि इन दोनों पक्षों में सामञ्जस्य न हो तो ज्ञान अप्रमा हो जायेगा प्रो० जे०एन० महन्ती के अनुसार गंगेश के द्वारा प्रस्तुत यह परिभाषा मूलतः यथार्थता (अबाधितत्व) से भिन्न नहीं है ।[21]

वेदान्तपरिभाषा में भी प्रमा के लक्षण में 'अबाधित्व' का निवेश किया गया है । जो अनुभव तथा स्मृति इन दोनों में समान रूप से घटित होता है । ध्यातव्य है कि वेदान्तपरिभाषा में अबाधित विषयक ज्ञान को प्रमा कहने का तात्पर्य यह है कि यदि

उसका व्यावहारिक दशा में बाध हो जाय, तो उस ज्ञान को प्रमा नहीं मानना चाहिए । व्यावहारिक दशा में घटादि का बाध किसी को भी इष्ट नहीं है । अत: 'अयं घट:' यह लौकिक ज्ञान भी व्यावहारिक रूप से ही प्रमा होगा । इसीलिए ब्रह्मसाक्षात्कार के पश्चात् घटादि सभी विषय बाधित हो जाते हैं, क्योंकि पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म की ही है । अत: अद्वैत वेदान्त मत की समीक्षा में व्यवहार तथा परमार्थ का सदैव ध्यान रखना चाहिए । व्यावहारिक विषयों का बाध ब्रह्मसाक्षात्कार से ही संभव है, क्योंकि उस समय सभी कुछ आत्मरूप हो जाता है तथा आत्मरूप (ब्रह्मरूप) हो जाने पर द्वैत का भान तक नहीं रहता है । अधिष्ठान ब्रह्म के साक्षात्कार के पूर्व तो प्रमाण-प्रमेय व्यवहार होता ही रहता है । इसी को दृष्टि में रखकर जगत् व्यवहार के लिए प्रमा का लक्षण किया गया है ।[22.]

'प्रमा' के निरूपण में ही अनुषंगत: वेदान्तपरिभाषा द्वारा स्मृति को भी प्रमात्व प्रदान करना, इस ग्रन्थ की अपनी पृथक् विशिष्टता है । जबकि 'स्मृति' के अबाधित होने पर भी नैयायिक इसे प्रमा नहीं मानते । वाचस्पति मिश्र का कहना है कि चूँकि स्मृति के कारण संस्कार को कारण नहीं माना जाता इसलिए स्मृति को भी प्रमा नहीं कहा जा सकता है ।[23.] ध्यातव्य है कि यद्यपि प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति भी संस्कार द्वारा होती है किन्तु केवल संस्कार द्वारा नहीं । वह संस्कार तथा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के द्वारा उत्पन्न होती है । नैयायिक जयन्त भट्ट मीमांसक आचार्य प्रभाकर के समान यह स्वीकार करते हैं कि जो ज्ञान अर्थजन्य है, वह प्रमा है । स्मृति निर्विषयक होती है, इसे अपनी उत्पत्ति के समय पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती । अत: यह प्रमा नहीं है । न्यायशास्त्र में स्वप्न-ज्ञान को भी स्मृति रूप माना गया है ।[24.] कुमारिल ने भी स्मृति को प्रमा की कोटि में नहीं रखा है, उनके अनुसार स्मृति सदैव अबाधित विषय नहीं होती है । यह सत्य है कि स्मृतिजन्य ज्ञान यथार्थ होने- के साथ-साथ अयथार्थ एवं संशयग्रस्त भी हो सकता है, किन्तु यह बात अन्य प्रमाणों के सम्बन्ध में भी लागू होती है, । स्मृति में प्रत्यक्ष के समान वस्तु का साक्षात् रूप से प्रस्तुत होना आवश्यक नहीं है ।

उल्लेखनीय है कि जैनियों एवं वैशेषिकों के अतिरिक्त अनेक पाश्चात्य दार्शनिक भी स्मृति को हमारे भूतकाल के ज्ञान का प्राथमिक स्रोत मानते हैं । इतिहास एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के द्वारा भूतकाल का ज्ञान भले ही सम्भव हो , किन्तु स्मृति के द्वारा ही हमारा भूतकाल से सीधा सम्पर्क होता है । यहाँ तक कि ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य भी स्मृति की अपेक्षा रखते हैं । इसीलिए बट्रेण्ड रसल §1872-1969§ का कहना है कि स्मृति के अभाव में भूतकाल जैसा कोई ज्ञान सम्भव नहीं है । वस्तुतः स्मृति प्रत्यक्ष के सदृश विषयों से साक्षात्कारित्व से युक्त होती है । अन्तर केवल इतना है कि स्मृति का विषय अतीतोन्मुखी होता है, जबकि प्रत्यक्षानुभव वर्तमानोन्मुखी होता है ।[25] इसी प्रकार थामस रीडका दावा है कि चैतन्य-संकाय, स्मृति-संकाय, ज्ञानेन्द्रिय-संकाय और बुद्धि-संकाय- ये चारों समान रूप से प्रकृति-प्रदत्त उपहार है ।[26] इसलिए स्मृतिजन्य ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

यद्यपि यह सत्य है कि वेदान्त में 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' ऐसी नीति होने से प्रमा सम्बन्धी मीमांसक सिद्धान्त यथायथ से अभ्युपगमवाद से स्वीकार कर लिया गया है । लेकिन वेदान्तपरिभाषाकार प्रमा के निरूपण में नवीन दृष्टिकोण सम्पृक्त कर अपनी प्रखर मेधा की उपस्थिति भी प्रस्तुत करते हैं । ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके कहा गया है कि: लीक लीक गाड़ी चले लीकहि चले कपूत । लीक छाँड़ि तीनों चले सायर सिंह सपूत । अर्थात् जो नई काव्य- रचना न करे, वह शायर §कवि§ कैसा? जो स्वयं अपना शिकार न करे वह शेर कैसा ? जो विघ्न- बाधाओं के झाड़-झंकाड़ों को दूर करके अपने लिए रास्ता न बनाए, वह सपूत कैसा ? वेदान्तपरिभाषाकार के संदर्भ में उपर्युक्त भाव अप्रासंगिक नहीं है ।

न्याय प्रभाव के संदर्भ में वेदान्तपरिभाषा की निरूपण पद्धति को प्रस्तुत किया जा सकता है । जिसमें प्रो० महन्ती का दृष्टिकोण बताया जा चुका है ।

§iv§ भ्रमः-

प्रमा के निरूपण के पश्चात् हम परिभाषाकार के अनुसार भ्रम की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे । अद्वैतवेदान्ती मधुसूदन सरस्वती अद्वैतसिद्धि में

अद्वैतब्रह्मसिद्धि के लिए अद्वैतमिथ्यात्वसिद्धि को आवश्यक मानते हैं । द्वैतमिथ्यात्वसिद्धि के लिए द्वैतका ज्ञान आवश्यक है । अतः समग्र द्वैत पदार्थों के ज्ञान की आवश्यकता अद्वैतवादी भी अद्वैत ब्रह्म सिद्धि हेतु आवश्यक समझते हैं । ज्ञानपूर्वक ही द्वैत का निराकरण सम्भव है । इसी प्रकार महर्षि गौतम भी यावत् पदार्थों के ज्ञान को आत्मज्ञान के लिए आवश्यक समझते हैं । अतएव प्रमा के विवेचन के पश्चात् भ्रम का निरूपण भी प्रासंगिक हो जाता है ।

प्रायः प्रत्यक्ष प्रमा के अन्तर्गत ही भारतीय दार्शनिक भ्रम अथवा भ्रान्त ज्ञान की व्याख्या करते हैं । शुक्ति में रजत की, रज्जु में सर्प की और आँख दबाने पर दो चन्द्रमाओं की प्रतीति भ्रान्त ज्ञान के उदाहरण हैं । पित्त से पीड़ित व्यक्ति को चीजें पीली दिखायी देती हैं, यह भी भ्रान्त ज्ञान है । इसीलिए तर्कसंग्रह मानती है कि भ्रम में वस्तु के स्वरूप का मिथ्या ज्ञान होता है-- मिथ्याज्ञानं विपर्ययः । सप्तपदार्थी में भी बताया गया है कि अतत्त्वानुभव भ्रम है--(अवधारणरूपातत्त्वज्ञानं विपर्ययः) तो वस्तु के स्वरूप का अन्यथाग्रहण है-(अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः) वास्तव में भ्रम के प्रसंग में मुख्य विवाद वस्तुवादी और प्रत्ययवादी विचारकों के बीच है । प्रत्ययवादी विचारक यह मानते हैं कि भ्रान्त ज्ञान का विषय प्रमाता के बाहर विद्यमान नहीं होता, वह किसी न किसी रूप में बुद्धि या कल्पना की सृष्टि है । अद्वैत वेदान्ती भ्रम के विषय को 'अज्ञान' की सृष्टि मानते हैं । इसके विपरीत वस्तुवादी विचारक यह प्रतिपादित करते हैं कि तथाकथित भ्रान्त ज्ञान का विषय भी कहीं न कहीं वर्तमान होता है ।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से भ्रम को 'ख्याति' शब्द का वाच्य बताया जाता है, क्योंकि ख्याति शब्द की निष्पत्ति 'ख्या' (प्रकथने) धातु से 'क्तिन' प्रत्यय लगाने पर होती है । ख्याति का शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान', किन्तु दर्शन में यह 'भ्रम-ज्ञान' के अर्थ में रूढ़ हो गया है । अनुषंगतः भ्रम अथवा ख्याति की विद्यमानता को कोई भी दार्शनिक सम्प्रदाय अस्वीकार नहीं करता है । किन्तु उनके मध्य मतभेद केवल

इस पक्ष को लेकर है कि इस भ्रांति का कारण तथा इसकी प्रक्रिया क्या है? भ्रम का स्वरूप क्या है? एवं इसका निराकरण कैसे होता है? इस विषय में प्रत्येक दर्शन का अपना-अपना दृष्टिकोण है । धर्मराज अध्वरीन्द्र तथा नैयायिक के भ्रम-सम्बन्धी विश्लेषण में वे सभी मत अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं । अतएव मान्य ख्यातियों का विवेचन भी प्रासंगिक हो जाता है । वे मुख्यत: सात हैं:-

1.	असत्ख्यातिवाद	(शून्यवादी बौद्ध)
2.	आत्मख्यातिवाद	(विज्ञानवादी बौद्ध)
3.	सत्ख्यातिवाद	(रामानुज)
4.	अख्यातिवाद	(गुरुमत)
5.	विपरीतख्यातिवाद	(भाट्टमत)
6.	अन्यथाख्यातिवाद	(न्याय-वैशेषिक)
7.	अनिर्वचनीयख्यातिवाद	(अद्वैतवेदान्त)

(V) भ्रम के प्रकार:-

ख्यातिवाद का स्पष्ट विवेचन रज्जु-सर्प के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करना अप्रासंगिक न होगा । रज्जु में सर्प का ज्ञान होता है । यह भ्रम यों होता है—यह सर्प है

असत्ख्यातिवाद मानता है कि इस ज्ञान का विषय यानी सर्प नितान्त असत् है । यह माध्यमिक बौद्धों का सिद्धान्त है । इनके अनुसार सभी पदार्थ पारमार्थिक रूप से असत् या शून्य हैं । अत: रज्जु में सर्प की जो भ्रांति होती है, उसमें सर्प तो असत् ही है, रज्जु भी असत् है । इस भ्रम का विषय यानी अधिष्ठान भी मिथ्या है । अत: यह सिद्धान्त असत् ख्यातिवाद कहलाता है । यहाँ एक बात खटकती है कि यदि वस्तु असत् है तो उसका प्रतिभास कैसे हो सकता है? वेदान्तियों के अनुसार अभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती ।[27] यदि नैयायिकों के अनुसार यह माना जाय कि सर्प कहीं तो विद्यमान है, किन्तु वर्तमान स्थान पर निर्भर नहीं है, तो यह अन्यथाख्याति ही है । पुन: अद्वैतवेदान्ती कहते हैं कि यद्यपि रज्जु-सर्प तो

तात्त्विक नहीं हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह भावात्मक भी नहीं है। भावात्मक होने के कारण आकाश कुसुम की भाँति भ्रान्ति पूर्णतया असत् नहीं है। अतएव भ्रम के लिए अधिष्ठान आवश्यक होने के कारण तथा निरधिष्ठान एवं निरवाधिक भ्रम के संभव न होने से शून्यवादी बौद्धों का असतख्यातिवाद संगत नहीं है।

आत्मख्यातिवाद के अनुसार संसार के समस्त पदार्थ विज्ञानरूप हैं। आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं के रूप में अवभासित होता है।[28] इस सम्बन्ध में उनकी यह उक्ति है कि नील तथा नीलज्ञान में सहोपलम्भनियम है अर्थात् नील ज्ञान के बिना नील की उपलब्धि नहीं होती। इसलिए नील की नीलज्ञान से स्वतन्त्ररूप में सत्ता नहीं मानी जा सकती।[29] अतएव भ्रम के इस सिद्धान्त को आत्मख्यातिवाद कहा जाता है। यहाँ भ्रम का कारण विषयगत नहीं, वरन् आत्मगत् होता है। किन्तु इस मत में सत्य तथा मिथ्या ज्ञान में अन्तर करना कठिन है, क्योंकि विज्ञानवाद में ज्ञान तथा प्रमाता में अभेद माना जाता है।[30] यह सर्प है, इस अनुभव में 'यह' आत्मा नहीं है। अगर यहाँ 'यह आत्मा होता तो सर्प आत्मा से पृथक् होकर अनुभव में न आता और हमें अनुभव होता कि आत्मा सर्प है या सर्प आत्मा के अन्दर है। ऐसा अनुभव नहीं होता है। अतः आत्मख्यातिवाद भ्रम की समुचित व्याख्या करने में समर्थ नहीं है।

सत्ख्यातिवाद के अनुसार जब रज्जु में सर्प का ज्ञान होता है या जब सीप में चाँदी का ज्ञान होता है तब वह भ्रम नहीं है। वह प्रमाणित ज्ञान है। ऐसा इसलिए होता है कि पंचीकरण के सिद्धान्त के अनुसार रज्जु और सर्प में या सीप और चाँदी में पाँचों महाभूतों के अंश है। भ्रम का ज्ञान रस्सी या सीप के उन अंशों का ज्ञान है जो क्रमशः सर्प या चाँदी में भी है। इस तरह भ्रम सत् प्रामाणिक ज्ञान है और उसका विषय सत् है।

सत्ख्यातिवाद को यथार्थख्यातिवाद भी कहते हैं। इसका मूल मन्तव्य है कि प्रत्येक ज्ञान किसी सद् वस्तु का ज्ञान है।[31] यह सिद्ध करता है कि विप्रतिपन्न

प्रत्यय भी यथार्थ प्रत्यय की भाँति सम्पन्न होते हैं ।

किन्तु सत्ख्यातिवाद भ्रम के अपवारण की सम्यक् व्याख्या नहीं करता है । जब भ्रम यथार्थज्ञान है तब वह निरुद्ध क्यों होता है ।[32] सत्ख्यातिवाद के अनुसार प्रत्येक भ्रम या विपर्यय सत्य या आंशिक सत्य है । किन्तु कुछ ऐसे भी विपर्यय हैं जो बिल्कुल असत्य हैं, उदाहरण के लिए स्वप्न या प्रतिभास को लीजिए । इनका कोई विषयगत आधार नहीं है । फिर गन्धर्वनगर जैसे भ्रम हैं जो बिल्कुल असत्य हैं । अत: रामानुजाचार्य का सत्ख्यातिवाद भ्रान्ति विषयक प्रश्नों का बौद्धिक समाधान करने में सक्षम नहीं है ।

अख्यातिवादी मीमांसक आचार्य सभी ज्ञान को प्रमा मानते हैं । जिसे हम भ्रम कहते हैं, (जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम) वह दो ज्ञानों का मिश्रण है । वह प्रत्यक्ष तथा स्मृति ज्ञान का सम्मिश्रण और इन दोनों के भेद के ज्ञान का अभाव (भेदाग्रह) है । जो 'स्मृतिप्रमोष' के कारण होता है ।[33] नैयायिक भ्रम को स्मृति नहीं मानते, अत: ऐसे स्थलों पर वे दोनों का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते हैं । वेदान्तियों का कहना है कि भ्रम दो ज्ञानों का सम्मिश्रण होकर भी ऐकिक ज्ञान ही रहता है ।[34] जब किसी व्यक्ति को रज्जु के स्थान पर सर्प का भ्रम होता है, तो वह दो प्रकार की प्रक्रियायें नहीं करके एक प्रकार की प्रक्रिया करने को उद्यत होता है (अर्थात् भागता है।) पुन: प्रभाकर के अख्यातिवाद को स्वीकार करने पर प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को अस्वीकार करना होगा क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों के अंश रहते हैं । परन्तु उसमें स्मृतिमूलक अंश का ज्ञाता को बोध रहता है । इसलिए प्रत्यभिज्ञा शुक्तिरजत ज्ञान से भिन्न है ।[35]

वास्तव में अख्यातिवाद भ्रम के विक्षेपांश की व्याख्या नहीं करता है । वह यह नहीं बताता कि सर्प-ज्ञान क्यों होता है? यह केवल इतना ही कहता है कि सर्प-ज्ञान यह (रज्जु) का ज्ञान नहीं है और वस्तुत: यहाँ कुछ ज्ञान नहीं हो रहा है, क्योंकि ज्ञेय रस्सी है और वह जानी नहीं जा रही है । यह सत्य है कि सर्प-ज्ञान

तभी संभव है जब यह §रज्जु§ का ज्ञान न होगा। किन्तु यह §रज्जु§ का ज्ञान न होना ही सर्प-ज्ञान नहीं है । सर्प- ज्ञान यह §रज्जु§ के अज्ञान के अतिरिक्त भी कुछ है । यहाँ यह का विक्षेप है । इसकी व्याख्या अख्यातिवाद में न होने के कारण अख्यातिवाद मान्य नहीं हो सकता ।

विपरीतख्यातिवादी आचार्य कुमारिल का कहना है कि अकार्य का कार्य के रूप में भान ही भ्रम है ।[36] भाट्ट मीमांसक मानते हैं कि जब कोई रज्जु में सर्प देखता है और कहता है कि यह सर्प है तो वहाँ उद्देश्य और विधेय दोनों ही सत्य है । संसार में दोनों का ही अस्तित्व है । फिर भी भ्रम इस कारण होता है कि सत् किन्तु पृथक् वस्तुओं को उद्देश्य और विधेय के रूप में जोड़ दिया जाता है । अतः भ्रांति ज्ञान के विषयों में नहीं, अपितु विषयों के संसर्ग में है ।[37] प्रभाकर तथा भाट्ट के मतों में अन्तर यह है कि प्रभाकर किसी भी ज्ञान में भ्रम की सत्ता स्वीकारनहीं करते, जबकि भाट्ट भ्रम की सत्ता मानते हैं, तथा भ्रम विषयों को लेकर नहीं, वरन् उनके संसर्ग को लेकर होता है ।

विपरीतख्यातिवाद वस्तुतः अन्यथाख्यातिवाद ही है । दोनों में केवल यही भिन्नता है कि भाट्ट मीमांसक शुक्तिरजत भ्रम में रजत को 'स्मृति' मानते हैं जबकि नैयायिक रजत का अलौकिक प्रत्यक्ष करते हैं । न्याय-दर्शन में भ्रम को अन्यथानुभव माना गया है ।[38] इस अन्यथानुभव को ही आचार्य कुमारिल विपरीत अनुभव मानते हैं । जैसे ही दृष्टा की आँखों का सम्बन्ध सामने विद्यमान रज्जु से होता है वैसे ही वह अन्यत्र स्थित सर्प के स्मरणात्मक ज्ञान के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोग कर लेता है । नैयायिकों के मत में सर्प स्मृतिमात्र नहीं है, वरन् सत्य है । स्मृति सर्प का प्रत्यक्ष साधारण ढंग से नहीं, अपितु ज्ञानलक्षणा नामक अलौकिक प्रत्यक्ष से होता है ।

प्राचीन न्याय के अनुसार नेत्र-दोष के कारण ही हमें वस्तु की अन्यथा प्रतीति होती है । नव्य-न्याय का कहना है कि नेत्र-दोष के कारण ही हम सामने दीखने

वाली वस्तु के सामान्य तथा विशेष धर्म में भेद नहीं कर पाते । शुक्ति तथा रजत दोनों का सामान्य धर्म चमकीला होना है । इसी चमकीलेपन से हमें ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष के द्वारा पूर्व दृष्ट रजत स्मरण हो आती है । अतः सामने की शुक्ति के चमकीलेपन का सम्बन्ध रजत से हो जाता है । अतः हम 'इदं' का सम्बन्ध रजत से जोड़कर शुक्ति को 'इदं रजतं' कहते हैं ।[39.] यही भ्रम है । यह विषयीमूलक है, विषयमूलक नहीं ।

यद्यपि विपरीतख्यातिवाद में भ्रम की अवस्था में हम कार्य करते हैं तथा अन्यथाख्यातिवाद में शुक्ति को रजत समझकर उसे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं । प्रयास और चेष्टा का करण भावात्मक ही मानना अधिक उचित है । अतः कुमारिल तथा न्याय का मत दैनिक व्यवहार के अधिक निकट है । लेकिन इसमें ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से सुसंगतता का अभाव है ।

अन्यथाख्यातिवाद भ्रम के वर्तमानत्व व एतद्देशविशिष्टत्व की अवहेलना करता है । जब हमें शुक्ति का रजत के रूप में भ्रम होता है तो रजत हमारे समक्ष उपस्थित रहता है, वह अन्य देश (आपण) और अन्य काल में कहीं स्थित नहीं रहता, जैसाकि अन्यथाख्यातिवादी कहते हैं । कुमारिल का भी यह कथन असंगत है कि रजत के भ्रम में स्मृति होती है । वास्तव में रजत का न तो असाधारण प्रत्यक्ष होता है और न उसकी स्मृति ही होती है । वह स्पष्ट रूप में हमारे समक्ष ही प्रत्यक्ष रूप में स्थित होता है ।[40.] पुनः भ्रम का निराकरण होने पर हमें केवल यही बोध होता है कि 'यह रजत नहीं है' हमें यह कदापि बोध नहीं होता कि रजत अन्य देश और अन्य काल में स्थित है ।[41.] यदि नैयायिकों के ज्ञान- लक्षणा प्रत्यक्ष को स्वीकार कर लिया जाय तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुमान की प्रक्रिया असम्भव हो जायेगी । ज्यों ही हमें किसी पक्ष में हेतु का प्रत्यक्ष होगा, हम ज्ञान- लक्षणा प्रत्यक्ष द्वारा साध्य का प्रत्यक्ष कर लेगें । फिर अनुमान की आवश्यकताही नहीं रह जायेगी । अतः अन्यथाख्याति भी भ्रम का सुसंगत व्याख्या करने में सक्षम नहीं है ।

ख्यातिवाद विषयक- असत्ख्यातिवाद, आत्मख्यातिवाद, सत्ख्यातिवाद, अख्यातिवाद, विपरीतख्यातिवाद, अन्यथाख्यातिवाद- षट् दृष्टिकोणों का विवेचन करने के पश्चात् सप्तम् ख्यातिवादी पक्ष का निरूपण अपेक्षित है । इसे अनिर्वचनीय ख्यातिवाद कहा जाता है । सर्वप्रथम आनन्दबोध ने 'न्यायमकरन्द' में अनिर्वचनीय पद का अर्थ 'अवभास' विभ्रम करते हुए बताया है कि भ्रम में दिखाई देने वाली वस्तु न सत् होती है, न असत्, न दोनों, बल्कि अनिर्वचनीय होती है ।[42क.] वेदान्ती अनिर्वचनीय पदार्थ की व्याख्या अर्थापत्ति प्रमाण से करते हैं । नैयायिक अर्थापत्ति को 'केवलव्यतिरेकी' अनुमान में अन्तर्भूत मानते हैं ।

अद्वैतवेदान्त के अनिर्वचनीय ख्यातिवाद में उपर्युक्त ख्यातियों का तार्किक समन्वय है । इसमें रज्जु में सर्प की प्रतीति को सत् नहीं माना गया है, क्योंकि बाद में उसका अपवारण होता है इसलिए वह सत्ख्यातिवाद नहीं है । फिर वह असत् नहीं हो सकती, क्योंकि वह दृश्य प्रतीयमान है । इस प्रकार 'यह सर्प' है, इस अनुभव का सर्प किसी अतीत में देखे गये सर्प का स्मरण नहीं है । यह सर्प कोई वास्तविक सर्प नहीं है । किसी वास्तविक सर्प से इसका कोई सम्बन्ध भी नहीं है । यह सर्वथा नया सर्प है । और इसका स्वरूप सदसत्विलक्षण अथवा अनिर्वचनीय है । इससे स्पष्ट है कि भ्रम का विषय असत् नहीं है । इस प्रकार वह असत् ख्यातिवाद तथा अख्यातिवाद से भिन्न है । पुनः इसमें किसी नामरूपात्मक वस्तु, उदाहरण के लिए रज्जु का अन्यथाग्रहण (विक्षेपात्मकग्रहण) भी नहीं होता है । इस प्रकार वह अन्यथाख्यातिवाद तथा विपरीतख्यातिवाद से भिन्न है ।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार भ्रम का अनुभव एक नवीन अनुभव है, वह स्मृति नहीं है । यह सर्प आत्मा का भी मिथ्या ग्रहण नहीं है, क्योंकि आत्मा से, जो सत् है, यह भिन्न है । अतः अनिर्वचनीय ख्याति में भ्रम के विषय सर्प को आत्मा से भिन्न एक विषयगत सत्ता प्रदान करते हैं । इस प्रकार वह योगाचार विज्ञानवाद के आत्मख्यातिवाद से भी भिन्न है ।

नैयायिक उदयनाचार्य यह आक्षेप करते हैं कि भ्रांति की निवृत्ति होने पर रज्जु का रज्जु के रूप में तथा भ्रांति के समय रजत के रूप में निवर्चन होता ही है । अतः इसको अनिर्वचनीय मानना युक्तिसंगत नहीं है । पर यह आक्षेप अद्वैत की दृष्टि को ध्यान में रखकर नहीं, वरन् द्वैतवादी अवधारणा से की गई है जो वेदान्त के उपर्युक्त विचारों से मेल नहीं खाती है । विमुक्तात्ममुनि द्वारा इष्टसिद्धि में बताया गया है कि भ्रान्ति में जो कुछ भासित (ज्ञात) होता है, वह वस्तुतः है या नहीं इसका निर्णायक कोई प्रमाण न होने से वह अनिर्वचनीय ही है ।[42. ख] अतः अनिर्वचनीयता का आशय 'निरूक्तिविरह' अर्थात् 'निर्वचन या लक्षण करने की अयोग्यता नहीं है, बल्कि सदसदनिर्वचनीय अर्थात् सत् और असत् आदि कोटियों द्वारा निर्वचन के अयोग्य होना है ।

शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्ती भामतीकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार भ्रम में प्रतीत होने वाली वस्तु को न सत् माना जा सकता है, न असत् और न ही सदसत् । अतः मृगमरीचिका में अनिर्वाच्य जल को ही मानना युक्त है ।[43.] विवरणकार प्रकाशात्मयति भी मानते हैं कि शुक्तिरजतभ्रम में प्रतीत होने वाला रजत मिथ्या एवं अनिर्वचनीय है तथा यह अविद्योपादानक है ।[44.]

वेदान्तपरिभाषाकार ने उपर्युक्त भ्रम-विषयक अवधारणा को तार्किक परिणति दी है । परिभाषाकार ने 'अनिर्वचनीय रजत' की उत्पत्ति की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है । परिभाषाकार के अनुसार काच, कामला आदि नेत्रदोषों से दूषित नेत्र वाले व्यक्ति के नेत्रन्द्रिय का पुरोऽवस्थित द्रव्य के साथ संयोग-सन्निकर्ष हो जाने से 'इदमाकार' 'यह' 'इत्याकारक' की 'चाकचिक्यकार' चकचकित आकार की कोई सी (विशिष्ट) अन्तःकरण वृत्ति उत्पन्न होती है और उस वृत्ति में इदं=यह (इस विषय) से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है ।[45.] इस प्रकार उस उत्पन्न हुई वृत्ति में चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने पर (उपर्युक्त) तडागोदक न्याय से वृत्ति बाहर निकलती है, जिससे इदमवच्छिन्न चैतन्य, वृत्यवच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृ

चैतन्य- यह त्रिविध चैतन्य अभिन्न हो जाता है । त्रिविध चेतना का अभेद हो जाने पर प्रमातृ चैतन्याभिन्न जो विषय चैतन्य तन्निष्ठ जो शुक्तित्व प्रकारक अविद्या, वही रजतरूप अर्थाकार से तथा रजतज्ञानाकार से परिणत होती है । और चाकचिक्यादि रूपसादृश्य के दर्शन से जागृत होने वाले रजत-संस्कार-रूप सामग्री का ही उस अविद्या को साहाय्य रहता है और काच-कामलादि भी उस अविद्या में होते हैं, जिससे वह रजत {अविद्या} रूप अर्थाकार से और रजतज्ञानकार से परिणत होती है । इस प्रकार अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति होती है।शुक्ति-रजत आदि भ्रांति ज्ञान का विषय तत्कालोत्पन्न अनिर्वचनीय रजत होता है ।

अद्वैतमत में त्रिकालाबाधित ब्रह्म ही एकमात्र सत् स्वीकृत है, किन्तु भ्रम का विषय सदसत् से विलक्षण होता है, उसके भीतर कुछ न कुछ सत्ता अवश्य रहती है । इसी कारण वेदान्तमत में भ्रम-रजत को उत्पन्न करने वाली सत् सामग्री, लौकिक रजत की सामग्री से विलक्षण अविद्या रूप होती है । यह अविद्या {तूलाऽविद्या} आकाशादि भूतों की उपादान-भूत-अविद्या {मूलाऽविद्या} से विलक्षण है । ग्रन्थकार ने भ्रम की व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया है कि जो ज्ञान सत्य तथा मिथ्या वस्तुओं में तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उसे भ्रम के रूप में स्वीकार किया जाता है ।[46.] यह रजत है इस वाक्य में इदमंश शुक्ति व्यावहारिक दृष्टि से सत्य वस्तु है, किन्तु रजत- जिसका शुक्ति के ऊपर आरोपण किया जाता है, केवल एक मिथ्या वस्तु ही है । यह सत्य तथा मिथ्या वस्तु का तादात्म्य ही 'अध्यास-भ्रम' कहा जाता है । स्वप्न में उपलब्ध होने वाले रथादिक भी शुक्तिरूप्य की तरह प्रतिभासिक है । जब तक प्रातिभास रहता है, तब तक वे प्रातिभासिक रथादिक भी अवस्थित रहते हैं । इस प्रकार स्वप्न में यद्यपि रथादि भी नहीं होते, तथापि उनकी प्राति-भासिक सत्यता अवश्यमेव रहती है ।

यद्यपि परिभाषाकार मूलतः अद्वैतवेदान्ती हैं, लेकिन अनिर्वचनीय ख्यातिवाद वहीं स्वीकार करते हैं, जहाँ आरोप्य {विषय} अर्थ इन्द्रिय से असन्निकृष्ट {दूर}

होता है । इन्द्रिय के सन्निकृष्ट आरोप्य के होने पर वे अन्यथाख्यातिवाद का समर्थन करते हैं ।[47.] यह दृष्टिकोण रचनाकार की मौलिकता का द्योतक है, जो अद्वैतवेदान्त में अपना पृथक् स्थान रखता है । उनके अनुसार जहाँ पर आरोप्य वस्तु सन्निकृष्ट न होकर इन्द्रिय से असन्निकृष्ट होती है, वहीं पर प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है । इस कारण जपापुष्प की लालिमा स्फटिक में भासित होती है । अतः स्फटिक में उसकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ती है ।[48.] वेदान्तपरिभाषा के अनुसार अनुपलब्धि परिच्छेद भी अन्यथाख्याति को स्वीकार किये जाने की पुष्टि करता है ।

विभिन्न ख्यातियों का उपर्युक्त विवेचन स्पष्ट करता है कि वेदान्तपरिभाषा-कार ने भ्रम-उत्पत्ति की प्रक्रिया का अत्यन्त तार्किक स्वरूप निरूपित किया है । नैयायिकों द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष से भ्रम की व्याख्या धर्मराज को अस्वीकार है । लेकिन परिभाषाकार आरोप्य के सन्निकृष्टि होने पर अन्यथाख्यातिवाद का अनुमोदन करते हैं । अतः स्पष्ट है कि भ्रम विषयक प्रसंग में परिभाषाकार नैयायिकों से प्रभावित हैं । इसकी पुष्टि अनुपलब्धि परिच्छेद से भी होती है । असन्निकृष्ट आरोप्य के होने पर ग्रन्थकार प्रस्थानी परम्परा का अनुकरण करते हुए अनिर्वचनीय-ख्याति को मानने का आग्रह करते हैं जो परिभाषाकार के स्वतन्त्र चिंतन-प्रवाह की पृष्ठभूमि है ।

(vi) प्रामाण्यवादः-

ज्ञान-बोधक प्रमा और भ्रम पर विचार करने के पश्चात् उसकी कसौटी-प्रामाण्य का विवेचन प्रासंगिक हो जाता है । भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद पर गहन अनुशीलन हुआ है । प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान का सत्य होना । अतएव अप्रामाण्य शब्द का अर्थ ज्ञान का असत्य होना है । प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति एक वस्तु है और ज्ञान (ज्ञप्ति) अन्य । ज्ञान की सत्यता तथा उसकी निश्चेयता ही प्रामाण्य है । संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित शुद्ध ज्ञान का निश्चय

तथा मूल्यांकन प्रामाण्य के द्वारा ही होता है । न्याय तथा मीमांसा दर्शन में प्रामाण्य का विवेचन एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । इसी प्रकार प्रमाणों के विषय में सम्यक् अनुशीलन करने वाले सांख्य, बौद्ध तथा शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्तियों द्वारा भी इस समस्या पर विस्तृत विचार किया गया है । न्याय-वैशेषिक के प्राचीन आचार्यों ने प्रमा तथा प्रमाण की यथार्थता के लिए प्रामाण्य शब्द का प्रयोग किया है, जबकि नव्य-नैयायिकों ने प्रामाण्य के स्थान पर 'प्रमात्व' शब्द का प्रयोग किया है । भाट्ट मीमांसकों ने इसके लिए 'प्रामाण्य' शब्द का ही प्रयोग किया है ।

प्रामाण्य की उत्पत्ति किसी साधन विशेष के द्वारा होती है तथा ज्ञान विषयत्व के कारण इसका ग्रहण भी होता है । उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति इन दोनों प्रसंगों में 'स्व' तथा 'पर' शब्द का अर्थ स्पष्ट करना प्रासंगिक है । उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति परस्पर भिन्न हैं । उत्पत्ति के भी कुछ साधन होते हैं और ज्ञप्ति के भी । इनमें उत्पत्ति के साधनों को 'ज्ञानोत्पदक सामग्री' और 'ज्ञप्ति' के साधनों को 'ज्ञान-ग्राहक-सामग्री' कहते हैं । ये ही दोनों सामग्रियाँ क्रमशः उत्पत्ति और ज्ञप्ति के प्रसंग में 'स्व' हैं तथा उनसे भिन्न 'पर' । इसलिए 'उत्पत्ति प्रामाण्य की स्वतः होती है' इस कथन का अर्थ है ज्ञानोत्पादक सामग्री मात्र से ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति और 'प्रामाण्य की ज्ञप्ति परतः होती है' इस कथन का अर्थ है ज्ञान-ग्राहक-सामग्री मात्र से प्रामाण्य की ज्ञप्ति ।

उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति- इन दोनों ही स्थितियों में प्रामाण्य के स्वरूप के विषय में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद है । कुछ दार्शनिकों ने उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति में प्रामाण्य स्वतस्त्व स्वीकार किया है तथा कुछ विद्वानों ने परतस्त्व स्वीकार किया है । जिस कारण सामग्री से ज्ञान उत्पन्न हो अथवा जिस कारण सामग्री से ज्ञान गृहीत हो, उसी ज्ञान की सामग्री से ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न या गृहीत हो, तो प्रामाण्य स्वतः होता हैं । तथा, जिस कारण सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति या ज्ञप्ति हो उससे भिन्न कारण सामग्री से ज्ञान का प्रामाण्य उत्पन्न

या गृहीत हो तो उसे परतः प्रामाण्य कहा जायेगा । प्रामाण्य की भाँति ही अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति में भी दार्शनिक मतभेद है ।

सर्वदर्शनसंग्रह के प्रणेता माधवाचार्य ने प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के स्वतस्त्व तथा परतस्त्व के विषय में चार मतों का उल्लेख किया है ।[49.] सांख्याचार्य प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को ही स्वतः तथा नैयायिक दोनों को ही परतः मानते हैं । बौद्धगण प्रामाण्य को परतः तथा अप्रामाण्य को स्वतः मानते हैं, जबकि मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः स्वीकार करते हैं । वेदान्तपरिभाषा में 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' के कारण प्रामाण्य को स्वतः तथा स्वतन्त्र-चिंतन शैली को प्रतिमान मानने के कारण नैयायिक परम्परा से अप्रामाण्य को परतः निरूपित किया गया है ।

मीमांसक आचार्य कुमारिल ने भी प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के स्वतस्त्व तथा परतस्त्व के सम्बन्ध में चार मतों का उल्लेख किया है ।[50.] प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते हैं, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इसी आधार पर किया जाता है कि जो वस्तु विद्यमान नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, अर्थात् सत् वस्तु की ही उत्पत्ति या आविर्भाव हुआ करता है । यदि ज्ञान में प्रामाण्य पहले से विद्यमान नहीं है तो वह किसी द्वारा भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता । प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः होते हैं, इसके गुणयुक्त कारणों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह यथार्थ होता है और दोषयुक्त कारणों से जो उत्पन्न होता है वह अयथार्थ, इस प्रकार गुण और दोषों के आधार पर ही प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय किया जा सकता है । अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः होते हैं । यह न्याय का मत है ।

सांख्याचार्य सत्कार्यवाद के अनुयायी हैं । उनके अनुसार जिस वस्तु की सत्ता पहले से ही जिस वस्तु में नहीं हैं उसमें उसका उपपादन कोई भी नहीं कर सकता ।

अतः ज्ञान में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य पहले से ही है । ये दोनों स्वतः गृहीत होते हैं अतएव उनके लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है । इसके विपरीत नैयायिकों का कथन है कि कोई भी ज्ञान उत्पन्न होते ही अपने विषय को निश्चित रूप से तब तक नहीं समझा जा सकता है जब तक दूसरे प्रमाण से उसकी पुष्टि न हो । अतः ज्ञानगत प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही क्रमशः साधारण उत्पादक कारणों से भिन्न गुण और दोष से उत्पन्न होते हैं । बौद्ध विद्वानों के अनुसार अप्रामाण्य तो स्वतः गृहीत होता है, किन्तु प्रामाण्य परतः गृहीत होता है । मीमांसक आचार्यों का कथन है कि प्रामाण्य तो स्वतः गृहीत होता है किन्तु अप्रामाण्य परतः गृहीत होता है । परिभाषाकार भी प्रामाण्यवाद के निरूपण में स्वमत का निवेश करते हैं ।

परतः प्रामाण्यवादी नैयायिक यह मानते हैं कि किसी ज्ञान का प्रामाण्य उससे उत्पन्न प्रवृत्ति के साफल्य पर निर्भर करता है । उसके प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की ग्राहक सामग्री प्रवृत्ति का साफल्य या वैफल्य मूलक अनुमान है । किसी प्रमाण के द्वारा जलादि का ज्ञान होने पर उसके ग्रहणार्थ मनुष्य में प्रवृत्ति होती है । प्रवृत्ति होने पर यदि प्रमाण से ज्ञान जलादि की उपलब्धि होती है तो वह ज्ञान यथार्थ होता है । प्रवृत्ति के विफल होने पर वह ज्ञान अयथार्थ होता है । इस प्रकार प्रवृत्ति के सफल होने पर प्रामाण्य तथा विफल होने पर अप्रामाण्य का निर्धारण होता है । ध्यातव्य है कि न्याय मत में ज्ञान की ग्राहक सामग्री अनुव्यवसाय है, जबकि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की ग्राहक सामग्री प्रवृत्ति साफल्य अथवा वैफल्यमूलक अनुमान होता है । 'अयं घटः' इत्याकारक व्यवसायात्मक ज्ञान के पश्चात् 'घटज्ञानवानहम्' अथवा 'घटमहंजानामि' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसे ही अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहते हैं जिसका विषय 'घट ज्ञान' होता है 'घट' नहीं । वेदान्त-दर्शन में ज्ञान को अनुव्यवसायात्मक नहीं माना जाता है । बल्कि यहाँ ज्ञान को स्व-प्रकाश प्रतिपादित किया गया है ।

प्रामाण्यविषयक नैयायिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के पश्चात् शोध प्रबन्ध हेतु वांछित धर्मराज अध्वरीन्द्र का मन्तव्य प्रस्तुत करना अपेक्षित हो जाता है । प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के विषय में धर्मराज अध्वरीन्द्र का कहना है कि प्रत्यक्षादि षट् प्रमाणों का प्रमाण्य स्वतः ही {स्वयमेव} ज्ञात अर्थात् ज्ञान की सामग्री से होता है और स्वतः ही ज्ञप्ति होता है ।[51] यह प्रामाण्य स्मृति एवं अनुभव दोनों के लिए साधारण संवादिप्रवृत्ति के अनुकूल 'तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्व' है ।[52] यह प्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न होता है । स्वतः का अर्थ स्वयं से नहीं है वरन् जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी सामग्री से प्रामाण्य भी होता है, यह अर्थ है । इस प्रकार प्रामाण्य ज्ञान सामान्य की सामग्री का ही कार्य है, उसके लिये उसे अधिक गुण की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि समस्त प्रमाओं में अनुगत रहने वाला कोई गुण नहीं है ।[53] इस कारण प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणादि सामग्री से न होकर स्वतः एवं होती है । अर्थात् प्रामाण्य की जनक ज्ञानजनक सामग्री ही है ।

नैयायिकों का कहना है कि जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी सामग्री से उस ज्ञान में प्रामाण्य भी होता है- ऐसा मानने पर तो भ्रम को भी प्रमा मानना होगा, क्योंकि रजत का रजतरूप से ज्ञान होते समय इन्द्रियादि जो ज्ञान की सामग्री होती है वही शुक्तिका में रजतभ्रम होते समय भी होती है, अतएव रज्जु में सर्प का ज्ञान भी सत्य मानना होगा । वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि स्वतः प्रामाण्य मानने पर भी अप्रमा में प्रमात्व नहीं हो पाता, क्योंकि प्रमा में जैसे अन्य साधन सामग्री की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार दोषाभावरूप सहकारिकारण को भी अंगीकार किया गया है ।[54] शुक्ति में जब रजत का ज्ञान होता है तब नेत्र में तिमिरादि कोई दोष उत्पन्न हो जाता है जिससे समस्त कारणों में से दोषाभाव रूप एक कारण अप्रमा में न होने से प्रमा रूप ज्ञान नहीं हो पाता है । नैयायिक भी गुण रूप आगन्तुक भाव कारण की अपेक्षा होने से ही परतः प्रमात्व की उत्पत्ति मानते हैं, अतः दोषाभावरूप {अभाव रूप} सहकारी कारण को स्वीकार करने पर भी परतस्त्व सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार 'प्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न होता है ।

इसकी सिद्धि होती है ।

प्रामाण्य की स्वतः उत्पत्ति की भाँति ही उसकी ज्ञप्ति भी स्वतः ही होती है और यही स्वतोग्राह्यत्व है अर्थात् प्रमा का धर्म ही प्रमात्व या प्रामाण्य है । जिस प्रकार घट का घटत्व धर्म घट में ही रहता है, उसी प्रकार प्रमात्व (प्रामाण्य) भी प्रमानिष्ठ (ज्ञाननिष्ठ) होता है । यह ज्ञान (प्रमा) ब्रह्मज्ञान है जो वृत्ति ज्ञान ही है । विवरणकार ने वृत्ति ज्ञान की व्याख्या में बताया है कि मुख्य अर्थ में आत्मा (ब्रह्म) ही ज्ञान है, किन्तु गौण अर्थ में आत्मज्योति से प्रकाशित अन्तःकरण की वृत्तियों को ज्ञान कहते हैं ।[55] इसलिए स्वाश्रय शब्द से प्रामाण्य का आश्रय जो घटाकाराकारित वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्यरूप है, उसका ग्रहण करना चाहिए । उन समस्त वृत्ति ज्ञानों का ग्राहक साक्षि ज्ञान ही है । इस साक्षिज्ञान ही प्रमातृचैतन्य है जिसके द्वारा वृत्तिज्ञानरूप प्रमा का जब ज्ञान होता है तभी तन्निष्ठ प्रमात्व का भी ज्ञान होता है । नैयायिकों के इस मत का निरास हो गया कि प्रामाण्य का ज्ञान परतः (अनुमान प्रमाण से) होता है अतः प्रामाण्य स्वतोग्राह्य ही है ।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषाकार नैयायिक विषयक परतः मत का निरास करके 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' का अनुकरण करते हुए मीमांसकों द्वारा स्वीकृत स्वतः प्रामाण्य का समर्थन करते हैं ।

वेदान्तपरिभाषाकार के प्रामाण्य का दृष्टिकोण स्पष्ट करने के पश्चात् उनके अप्रामाण्य विषयक मत का निरूपण अपेक्षित है । वेदान्तपरिभाषाकार नैयायिकों की भाँति अप्रामाण्य को परतः ही उत्पन्न मानते हैं और उसके ज्ञान को भी परतः स्वीकार करते हैं । ज्ञान सामग्री से ही उस ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है, ऐसा स्वीकार करने पर प्रमा में भी अप्रमात्व प्राप्त हो जायेगा । विदित है कि भ्रम तथा प्रमा दोनों में ज्ञान सामान्य की इन्द्रियादि सामग्री ही होती है । अप्रमाण्य की उत्पत्ति दोष से ही होती है जो ज्ञान-सामान्यसामग्री से नितान्त

भिन्न है । यह अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य भी नहीं है । रजत्वाभावान् पदार्थ में रजत्वप्रकारक ज्ञान का होना ही अप्रामाण्य का लक्षण है जिसे 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानत्वम् कहते हैं। इस अप्रामाण्य का ज्ञान विफल- प्रवृत्ति आदि हेतुओं से होने वाले अनुमान प्रमाण से होता है । यह अनुमान इस प्रकार होता है-'मुझे जो पहले रजत का ज्ञान हुआ था उसे अप्रमाण्य होना चाहिए, क्योंकि वह विसंवादि प्रवृत्ति का जनक हुआ है, जिस प्रकार रज्जु में पहले सर्प का ज्ञान होता है'। इस प्रकार अप्रामाण्य विसंवादि (विफल प्रवृत्ति) आदि हेतुओं से होने वाली अनुमिति आदि ज्ञानों का विषय है । तस्मात् अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है तथा परतः ही ज्ञात होता है ।

नैयायिक भी अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति को परतः मानते हैं । इस विषय में दोनों ही सिद्धान्तों में साम्य दृष्टिगत होता है, क्योंकि दोनों ने ही अप्रामाण्य का निर्धारण विफलप्रवृत्तिमूलक अनुमान से किया है । उपर्युक्त विवेचना स्पष्ट करती है कि प्रामाण्यवाद का निरूपण करने में वेदान्तपरिभाषाकार ने परम्परा तथा स्वतन्त्र-चिन्तन पद्धति का परिचय दिया है । परिभाषाकार ने 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' का अनुकरण करते हुए मीमांसकों द्वारा निरूपित स्वतः प्रामाण्य के साथ ही साथ अप्रामाण्य की 'उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति' को परतः माना है । नैयायिकों ने प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति को परतः ही माना है । वेदान्तपरिभाषाकार नैयायिकों की ही भाँति प्रवृत्ति के विफल हो जाने पर हुए अनुमान के आधार पर अप्रामाण्य का परतस्त्व स्वीकार करते हैं । इस विषय में (अप्रामाण्य में) दोनों ही दर्शनों में साम्य स्पष्ट लक्षित होता है । नैयायिक वेदों का प्रामाण्य परतः मानते हैं , क्योंकि उन्होंने वेदों के पौरुषेयत्व को स्वीकार करके ईश्वर को उसका प्रणेता बताया है ।[56.]
वेदान्तपरिभाषाकार का इस प्रसंग में अपना पृथक् दृष्टिकोण है । उनके अनुसार वेद परमेश्वरकर्तृक होने पर भी अपौरुषेय हैं, क्योंकि परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में

पूर्वसर्ग के समय वेदों की सिद्धि आनुपूर्वी के समान ही, जिसकी आनुपूर्वी है, ऐसे वेद की रचना की । अपौरूषेय होने पर भी परिभाषाकार के मत में वेद नित्य नहीं है, क्योंकि वह उत्पत्तिमान् है और यह श्रुतिप्रमाण से भी सिद्ध है ।[57]

टिप्पणी:-

1- अर्थप्रकाशो बुद्धिः।

लौगाक्षिभास्कर- तर्ककौमुदी ।

2- बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।

- न्याय सूत्र, 1/1/15.

3- सर्वव्यवहारहेतुः ज्ञानं बुद्धिः ।

अन्नंभट्ट- तर्कसंग्रह ।

4- चैतन्यप्रधानवृत्तवचनोजानातिः ।

- भामती, 1/1/5, पृ0- 169.

5- आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता--- विभुर्बुद्धयादिगुणवान्---।

विश्वनाथ- कारिकावली, पृ0- 46-50.

तथा,

सोऽयमनुभव आत्मगुणं इति तार्किकाः प्राभाकराश्चाहुः ।

विद्यारण्य- विवरण प्रमेय संग्रह, पृ0- 198.

6- बुद्धि व्यापारो ज्ञानम् ।

वाचस्पति -सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ0-09.

7- ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया ।

ब्रह्म-शांकरभाष्य, 1/1/1.

8- अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यतायाः तल्लक्षणत्वात् ।

चित्सुखाचार्य-तत्त्वप्रदीपिका(काशी, 1956),पृ0-9

9- तदुक्तं विवरणेऽन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारादिति ।

मुसलगांवकर- वेदान्तपरिभाषा की टीका, 25.

10- यथार्थानुभवः प्रमा। तर्क भाषा, पृ0-18

11- गौतम-न्यायसूत्र (चौखम्भा, 1925), 1/1/4.

12- तद्वति तत्प्रकारकत्वानुभवम् । या, यत्र यत् अस्ति तत्र तस्यानुभवो प्रमा ।
गंगेश, 'तत्त्व-चिन्तामणि', प्रत्यक्ष-प्रकरण, पृ0- 401.

13- कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् ।
- पार्थसारथि, शास्त्रदीपिका, पृ0- 1/1/5.

14- जिज्ञासु, वेदान्तपरिभाषा-टीका, पृ0- 19.

15- वही, पृ0- 22.

16- न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, पृ-21 तथा पार्थसारथि मिश्र
शास्त्रदीपिका, पृ0-124-126

17- पं0 अनन्तकृष्णशास्त्री-परिभाषाप्रकाशिका, पृ0-20,
जिज्ञासु, वेदान्तपरिभाषा-टीका, पृ0- 23

18- देखिए: डा0 विजल्वान-भारतीय न्यायशास्त्र, पृ0- 77

19- जिज्ञासु- वेदान्तपरिभाषा- टीका, पृ0- 35.

20- 'योऽयर्थप्रकाशः फलम्' ।
वाचस्पतिमिश्र-भामती, 1/1/4.

21- महन्ती, जे0एन0, गंगेशास् थियोरी आफ टूथ
(शान्तिनिकेतन, विश्वभारती, 1966), पृ0- 45.

22- जिज्ञासु-वेदान्तपरिभाषा- टीका, पृ0-26.

23- वाचस्पति मिश्र- न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका, पृ0-21
तथा जयन्त भट्ट-न्यायमंजरी, भाग-1, पृ0-21.

24- तर्कभाषा, पृ0- 230.

25- बर्ट्रेण्ड रसल , दि एनैलॉलिसि आफ माइण्ड, लन्दन, पृ0-173.

26- थामस रीड, एस्सेज आन दि इन्टेलेक्चुअल पावर्स आफ मैन जो चीजहोम, आर०एम० द्वारा अपनी 'थिओरी आफ नालेज' में उद्धृत, पृ०- 122.

27- नाभावोपलब्धो । शांकरभाष्य {ब्रह्मसूत्र, 2. 2. 28} तथा भामती ।

28- यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वत् अवभासते ।

- दिंगनाग, आलम्बन- परीक्षा {अडयार लाइब्रेरी, 1942} -2. 2. 28.

29- सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्यतेन्दाविवाद्वये ।

ब्रह्मसूत्र 2. 2. 28 तथा भामती, पृ०-544

30- ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य तथा भामती

31- बर्ट्रेण्ड रसल, अवर नालेज ऑव दि एक्सटर्नल वर्ल्ड, पृ०-93

32- डा० दासगुप्त, ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, भाग-3, पृ०245 में उद्धृत मेघनादारि का वाक्य--
विप्रतिपन्नः प्रत्ययो यथार्थः प्रत्ययवत् सम्प्रतिपन्न प्रत्ययवदिति ।

33- ज्ञानयोः विषयोश्च विवेकाग्रहात् भ्रमः ।

{काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1961}, शालिकनाथ मिश्र-
प्रकरणपंजिका, पृ०- 43.

34- सा चैकमेव ज्ञानं एकफलं जनयति। पंचपादिकाभाष्यप्रकाशात्मा, पृ०-196.

35- शास्त्रदीपिका, पृ०-45.

36- अकार्यस्य कार्यतमा भानम् । श्लोकवार्त्तिक ।

37- सर्वत्र संसर्गमात्रमसदेवावभासते ।
संसर्गिणस्तु सेयं विपरीतख्यातिरित्युच्यते मीमांसकैः ।

शास्त्रदीपिका, पृ०- 58.

38- सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं, प्रकारे तु विपर्ययः । यहाँ अन्यथा का अर्थ है- अन्य प्रकार से शिवादित्य मिश्र, सप्तपदार्थी (विजयनगरम्), पृ0-25.
तथा
एम0 हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ0-315 की टिप्पणी ।

39- बी0एन0 सिंह, भारतीय दर्शन, पृ0-372-73, तृतीय संस्करण, 1983.

40- पुरोऽवस्थितत्वेनावभासमानत्वात् ।
विद्यारण्य- विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ0-92

41- नेदं रजतम्, किन्तु देशकालान्तरे बुद्धौ वेत्यनवगमादिति भावः ।
- विवरणभाष्य, पृ0-205.

42.क- आचार्यैः पुनरनिर्वचनीयार्थावभासं विभ्रममाचक्षते ।
आनन्दबोध-न्याय मकरन्द, पृ0, 111

42.ख- भ्रान्तौ यावत्किञ्चिद्भाति तस्य सर्वस्य भावेऽभावे च प्रमाणाभावदनिर्वचनीयतैवेति सिद्धम् । विमुक्तात्मा- इष्टसिद्धि, पृ0-121.

43- तस्मान्न सत्, नाप्यसत्, नापि सदसत् परस्परविरोधादित्यनिर्वाच्यमेवारोपणीयं मरीचिषु तोयमास्थेयम् । (भामती, पृ0-23)

44- सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसंभेदो वभासमानः माया मिथ्या अनिर्वचनीयख्यातिः अध्यास एवायं इत्यर्थः ।
पंचपादिका विवरण, काशी, 1899, प्रकाशात्मयति, पृ0-167-69.

45- मुसलगांवकर, वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ0- 104-105

46- सत्यमिथ्यावस्तुतादात्म्यावगाहित्वेन भ्रमत्वस्य स्वीकारात् ।
वही, पृ0-1194

47- आरोप्य सन्निकृष्टस्थले सर्वत्रान्यथाख्यातेरेव व्यवस्थापनात् ।
वही, पृ0-13146

48- यत्रारोप्य----- लोहित्यउत्पद्यते । वही, पृ0- 305.

49- प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः ।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः-
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ।
माध्वाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, लक्ष्मीवेंकटेश्वरप्रेस, बम्बई, पृ0-131,

50- स्वातोऽसतामसाध्यत्वात्केचिदाहुर्द्वयं स्वतः ।
अपरे कारणोत्पन्नगुणदोषोऽवधारणात् ।।
कुमारिल भट्ट, श्लोक वा0, चौखम्बा संस्कृत सारीज, बनारस, 1998-99.

51- एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वतस्त्वोत्पद्यते ज्ञायते च ।
जिज्ञासु वेदान्तपरिभाषा, जिज्ञासु की टीका, पृ0- 322

52- तथा हि स्मृत्यनुभवसाधारणं संवादिप्रवृत्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारक ज्ञानत्वं .
प्रामाण्यं । वही, पृ0- 322

53- तच्च ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यं, न त्वधिकं गुणमपेक्षते, प्रमामात्रेऽनुगत-
गुणाभावात् । वही, पृ0- 322.

54- न चैवमप्रमाऽपि प्रमा स्यात्, ज्ञानसामान्यसामग्र्या अविशेषादिति वाच्यम्
दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात् । वही, पृ0- 328.

55- वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्-प्रकाशात्मा-विवरणे ।

56- तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । वेदान्तसूत्र

57- अस्माकं तु मते वेदो न नित्य उत्पत्तिमत्त्वात् ।
उत्पत्तिमत्त्वं च अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेत- ऋग्वेदः (बृ0 2-4-10)
इत्यादि श्रुतः । वही, पृ0- 265-66.

उपसंहार

उपसंहार:-
======

प्रस्तुत शोध-पत्र का मुख्य ध्येय 'वेदान्तपरिभाषा' पर 'न्याय-दर्शन' के प्रभाव की समीक्षा करना है । परिभाषाकार का प्रधान प्रयोजन 'मन्दानां बोधाय- -वेदान्तार्थावलम्बिनी' को बोधगम्य बनाना है । धर्मराज अध्वरीन्द्र अभीष्ट पूर्ति में 'आनो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वत:' (Let noble thoughts come to us from every side) के पथ का अनुकरण करना समीचीन समझते हैं । न्याय-दर्शन तथा अद्वैतवेदान्त गहन अनुशीलन के परिणाम हैं,जो केन्द्रीय विचारधारा (प्रमाणमीमांसा- तत्त्वमीमांसा) इन दोनों दर्शनों में क्रमश: विकसित हुई उसका उद्गम उपनिषद् में हुआ है, प्रथम की सूत्रकार गौतम ने पुष्टि की है, नव्य- न्याय में उसका पर्याप्त विकास हुआ है, द्वितीय में आचार्य गौड़पाद ने नवजीवन का संचार किया है, शंकराचार्य में वह अपनी चरमसीमा पर पहुँची है, और शंकरोत्तर अद्वैत-वेदान्तियों में जाकर वह अद्यतन प्रवाहशील है ।

न्याय तथा वेदान्त दोनों दर्शनों के आचार्य परम्परा तथा साहित्य के साथ-साथ तत्त्व-ज्ञान एवं मोक्ष-सम्प्रत्यय के विवेचन से स्पष्टत: ज्ञात होता है कि दोनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में काफी समता तथा विषमता सम्पृक्त है ।

न्याय तथा वेदान्त के आचार्यों का चिंतन आस्तिक परम्परा का द्योतक है । दोनों दर्शनों के साहित्य का नामकरण भी सूत्र, भाष्य, कारिका, वार्त्तिक, वृत्ति, टीका, संग्रह (प्रकरण) आदि हैं । उदाहरणार्थ सूत्रकार गौतम हैं । भाष्यकार वात्स्यायन हैं । वार्त्तिकार उद्योतकर हैं । टीकाकार वाचस्पति मिश्र हैं । वृत्तिकार जयन्तभट्ट हैं । संग्रहकार भासर्वज्ञ, केशव मिश्र आदि हैं । इसी प्रकार अद्वैतवेदान्त में सूत्रकार बादरायण हैं, भाष्यकार शंकर हैं, वार्त्तिकार सुरेश्वर हैं, टीकाकार पद्मपाद और वाचस्पति मिश्र हैं, वृत्तिकार आनन्द गिरि हैं और सदानन्द, धर्मराज अध्वरीन्द्र, अप्पय दीक्षित आदि संग्रहकार हैं ।

यद्यपि न्याय तथा वेदान्त दोनों दर्शनों के आरम्भिक आचार्यों में परस्पर खण्डन-मण्डन का अभाव मिलता है । लेकिन परवर्ती आचार्य अत्यन्त ज्ञान-पिपासु हैं । न्यायाचार्य उदयन का कहना है कि न्याय चर्चा वेदान्त का मनन है, जो श्रवण के अनन्तर होना चाहिए ।[2]परवर्ती वेदान्ती श्री हर्ष (12वीं सदी), मधुसूदन सरस्वती (15वीं सदी), धर्मराज अध्वरीन्द्र (16वीं सदी) प्रभृति आचार्य न्याय-दर्शन की विश्लेषणात्मक पद्धति के प्रति अत्यन्त आग्रही दिखायी देते हैं । इसीलिए प्रो0 सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त का कहना है कि "श्री हर्ष प्रथम महान् दार्शनिक हैं, जिन पर परोक्षरीति से नव्य-न्याय की नटविद्या का अधिकांश में उत्तरदायित्व है"[3]

इस प्रकार न्याय तथा वेदान्त दर्शन के उद्‌गम, परम्परा एवं ग्रन्थ के नामकरण की परस्पर निकटता मस्तिष्किय न होकर देशकाल का नैसर्गिक आकर्षण है ।

न्याय-दर्शन में तत्त्व-ज्ञान निःश्रेयस् की प्राप्ति का साधन माना गया है। वह तत्त्वज्ञान है प्रमाण प्रमेयसहित सोलह पदार्थों का अनुशीलन अर्थात् प्रमाणप्रमेय--तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः । ध्यातव्य है कि अन्य भारतीय दर्शनों में 'तत्त्व' शब्द से मात्र नित्य पदार्थ समझा जाता है ।नैयायिकों के संशयप्रमाणादि सभी पदार्थ या तो विशुद्ध प्रमाणमीमांसा के आलोच्य विषय हैं या मनोविज्ञान के । सूत्रकार गौतम के अनुसार इन सोलह पदार्थों के अनुशीलन से तर्क और वाद-विवाद की क्षमता तथा सूक्ष्म विचार की शक्ति अत्यन्त ही प्रखर हो जाती है और वाद या युक्तियुक्त चिंतन द्वारा तत्त्व-ज्ञान का उदय होता है । कहा गया है'वादे वादे जायेत तत्त्वबोध

वेदान्त परम्परा में एकमात्र तत्त्व-पदार्थ ब्रह्म या आत्मा है जिसका स्वरूप आनन्द है । इसके अतिरिक्त जो कुछ दिखायी पड़ता है वह अतत्त्व है । अतत्त्व का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि वस्तु या तत्त्व या आत्मा अवस्तु से पृथक् की जा सके । अवस्तु के ज्ञान के अभाव में अवाङ्‌मनसगोचर वस्तु का ज्ञान साधारण लोगों को नहीं हो सकता । अतएव परिभाषाकार ने प्रकरण-ग्रन्थ का प्रणयन कर वेदान्त के प्रतिपाद्य को सभी के लिए बोधगम्य बनाया ।[4] परिभाषाकार का आग्रह है कि

वेदान्त के अधिकारी साधन- चतुष्टय से सम्पन्न होते हुए भी तीव्र-बुद्धि तथा मन्द्र-बुद्धिकेभेद से दो प्रकार के होते हैं । उनमें से प्रथम जिज्ञासु को तो सूत्र, भाष्य, टीका, प्रटीका इत्यादि ग्रन्थों को देखने में सक्षम होने से तथा प्रमादरहित होने के कारण सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य- ज्ञान उन्हीं सूत्रादि ग्रन्थों से हो जायेगा । किन्तु मन्द-बुद्धि वाले अधिकारी में उक्त सूत्रादि ग्रन्थों को देखने का सामर्थ्य भी नहीं तथा प्रमाद भी है । अत: उनके लिए भी ﴾जो तत्त्वजिज्ञासा होने के कारण अधिकारी तो हैं ।﴿ एक ऐसा ग्रन्थ होना चाहिए, जो संक्षेप में सम्पूर्ण वेदान्त के प्रतिपाद्य को बतला सकता हो उन्हीं के लिए यह 'वेदान्तपरिभाषा' प्रस्तुत है ।

न्याय-दर्शन का अनुकरण करते हुए परिभाषाकार ने बताया है कि 'मानाधीनामेयसिद्धि:' अर्थात् प्रमाण द्वारा ही ज्ञेय वस्तु का बोध हो सकता है । इसीलिए सर्वप्रथम प्रमाणों का विवेचन वेदान्तपरिभाषा में किया गया है, क्योंकि प्रमाणों का निश्चय हो जाने के बाद ही उनसे प्रमेय पदार्थों का निश्चय हो सकता है । अर्थात् जब तक प्रमाण-स्वरूप तथा उसकी संख्या का निश्चय नहीं हो जाता है, तब तक प्रमेय पदार्थों का विचार एवं निश्चय सम्भव नहीं है, फिर तो प्रयोजन की सिद्धि भी दूर हो जाती है । न्याय-दर्शन तथा वेदान्तपरिभाषा के तत्त्व-ज्ञान की तुलना से स्पष्टत: ज्ञात होता है कि यद्यपि परिभाषाकार न्याय-दर्शन के तत्त्वज्ञान के निरूपण-प्रक्रिया से प्रभावित हैं ।[5.] फिर भी वे तत्त्वज्ञान के साधन में न्याय प्रतिपादित चारों प्रमाणों के अतिरिक्त अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी निर्दिष्ट करते हैं ।

न्याय- दर्शन तथा वेदान्तपरिभाषा दोनों के अनुसार मोक्ष दु:खाभाव है । परिभाषाकार मोक्ष के साधन और प्राप्ति के निरूपण में श्रवण, मनन और निदिध्यासन तथा आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दु:खों की आत्यान्तिक निवृत्ति प्रतिपादित करते हैं । साथ ही परिभाषाकार ने सगुण उपासना को भी चित्त-एकाग्रता के द्वारा निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार में कारण माना है ।[6.]

यद्यपि सगुण उपासना निर्विशेष ब्रह्म में साक्षात्कार कारण नहीं है । उसका साक्षात् फल चित्त की एकाग्रता है । लेकिन निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार में चित्त की एकाग्रता भी अपेक्षित है और चित्त की एकाग्रता सगुण उपासना से होती है । जिससे निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार वेदान्त विचार द्वारा मन्द-बुद्धि वालों को भी हो जाता है । तदन्नतर जीवात्मा को अपने स्वरूप में दुःख का अत्यन्ताभाव तथा निरतिशय आनन्द का अनुभव होता है ।

न्याय-दर्शन के अनुसार भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन से तत्त्व का साक्षात्कार होता है, तदनन्तर इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है । इसमें अष्टांग-योग का अनुष्ठान भी सहायक होता है ।[7.] लेकिन नैयायिकों का आत्मसाक्षात्कार निषेधात्मक है और उसका आशय सुख की प्राप्ति नहीं, बल्कि दुःख का परिहार है । यह परिहार ध्वंसाभाव-स्वरूप होने से अनन्त होता है । यद्यपि परिभाषाकार की मुक्ति भावात्मक है । लेकिन मोक्ष के साधन तथा दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के प्रतिपादन में न्याय-दर्शन का प्रभाव स्पष्ट है

पुनश्च, वेदान्तपरिभाषा में परिभाषाकार ने किसी नवीन दर्शन की स्थापना नहीं की है । बल्कि नव्य-- न्यायघटित भाषा में अद्वैतवेदान्त के प्रतिपाद्य विषय 'पारमार्थिक स्तर' को सर्वजन सुलभ निरूपित करने का प्रयास किया है । आध्यात्मिक स्तर पर लोकतन्त्र की स्थापना परिभाषाकार के चिंतन का दूषण नहीं है, वरन् 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः' {वही विद्वान है जो सभी जीवों को अपने समान समझता है।} का प्रतिपादन गीता तथा छान्दोग्य उपनिषद् के दृष्टिकोणों का चरमोत्कर्ष है ।[8.] साथ ही परिभाषाकार द्वारा अद्वैत-तत्त्व की प्राप्ति में सगुण उपासना का निवेश, उसके साक्षात्कार में अपरोक्ष-ज्ञान को साधन बताना, अपरोक्ष-ज्ञान को वाक्यजन्य मानना, मन का अनिन्द्रियत्व, वह्निमान् पर्वत में पर्वतांश की प्रत्यक्षत्व व्यवस्था, ज्ञानगत तथा विषयगत प्रत्यक्ष के भिन्न-भिन्न प्रयोजक, शब्द से प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति, परतः अप्रामाण्यवाद, महावाक्य में

लक्षण का खण्डन, स्मृति को भी प्रमा रूप मानना, साक्षी, ख्यातिवाद- में अनिर्वचनीय तथा अन्यथाख्यातिवाद का प्रतिपादन करना परम्परागत अद्वैतपक्ष का पिष्टपेषण नहीं है, वरन् इसका निरूपण मौलिक गवेषणात्मक चिंतन द्वारा केवल तार्किक वर्गीकरण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है जो अद्वैत-वेदान्त के मूल अभिप्राय को बोधगम्य कराने में उपादेय है । अतः परिभाषाकार की निष्पक्षता सराहनीय और उनकी महत्ता अक्षुण्ण है ।

यह भी कहा जा सकता है कि परिभाषाकार का परम्परागत आचार्यों के प्रति गुरुश्रद्धा अपने समकालीन आचार्यों से भिन्न थी। यह उस तरह का गुरु-स्नेह है जिस तरह अरस्तू ने अफलातून के विचारों की आलोचना करके गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की । "मेरे मन में अफलातून के लिए श्रद्धा है, परन्तु सत्य के लिए उससे भी अधिक श्रद्धा है ।"[10]

पुनश्च 'प्रमाणमीमांसा' के अवलोकन से ज्ञात होता है कि परिभाषाकार का ध्येय परम्परागत आचार्यों की भाँति प्रमाणमीमांसीय सम्प्रत्ययों की आनुभविक व्याख्या करना नहीं है वरन् उनका आग्रह ज्ञान की उत्पत्ति (गौण रूप से) एवं विकास, स्वरूप तथा क्रियान्वयन में विषयों से संयुक्त होने की परीक्षा में है । यह आग्रह विशुद्ध रूप से दार्शनिक परीक्षण है ।

इसी प्रकार परिभाषाकार ने 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' का अनुकरण करते हुए वेदान्त सम्मत प्रमाण- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि का मात्र विवेचन नहीं किया है, बल्कि इन प्रमाणों से किस प्रकार यथार्थ ज्ञान की स्थापना हो सकती है, निरूपण किया है । परिभाषाकार अद्वैत-वेदान्त और न्याय-दर्शन दोनों के मूर्धन्य-विद्वान हैं । अतः प्रमाणमीमांसा के निरूपण में दोनों दर्शनों की विवेचन-प्रक्रिया का समावेश होना स्वाभाविक है ।

अनुषङ्गतः प्रमाणमीमांसा के विवेचन में परिभाषाकार ने षड्-प्रमाणों में न्याय-दर्शन द्वारा निरूपित चारों प्रमाणों का अत्यन्त तार्किक प्रक्रिया से विश्लेषण किया है जो न्यायदर्शन की निरूपण प्रकृति से अधिकांशः समानता रखती है, साथ ही वेदान्त तथा न्याय द्वारा निरूपित प्रतिमानों को धर्मराज कतिपय स्थलों पर स्वीकार करते हैं, विरूद्ध मानदण्डों का खण्डन करते हैं तथा अपने नये अभिमत का प्रतिपादन भी करते हैं । जैसे- न्यायसूत्रकार गौतम ने प्रत्यक्षजन्य ज्ञान को इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के द्वारा 'प्राप्यकारितावाद' के माध्यम से प्रतिपादित किया है; क्योंकि सूत्रकार का लक्ष्य जन्य ज्ञान का निरूपण करना था अजन्य का नहीं । ग्रन्थकार ने वृत्तिरूप ज्ञान को तडागोदकन्याय से तैजसः अन्तःकरण का परिणाम बताया है ।

पुनश्च, विश्वनाथ द्वारा 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' तथा गंगेश द्वारा प्रत्यक्षप्रमा को स्वयंमूलक स्वीकार करना परिभाषाकार को प्रकारान्तर से मान्य है; क्योंकि प्रत्यक्षप्रमा चैतन्य स्वरूप है जो प्रकृतः अजन्य ही है; क्योंकि चैतन्य के अभिव्यंजक वृत्ति की उत्पत्ति से उस वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य को भी उत्पन्न होने वाला कहा जाता है । अतः वृत्ति ज्ञानरूप नहीं है । वह तो ज्ञान का अवच्छेदक है, स्वयं ज्ञान का अवच्छेदक होने से वृत्ति को औपचारिक रूप से ज्ञान कह दिया जाता है ।

ग्रन्थकार प्रत्यक्ष प्रमा के सविकल्पक तथा निर्विकल्पक भेदों को स्वीकार करते हैं जिसे प्राचीन न्याय भी मानता है । जबकि वेदान्त में केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही माना जाता है । नव्य-न्याय निर्विकल्पक को अस्वीकार कर केवल सविकल्पक को ग्रहण करता है । ग्रन्थकार ने विषयगत तथा ज्ञानगत रूप में प्रत्यक्ष का भेद किया है । पुनः प्रत्यक्ष पदार्थ के ज्ञानत्व पक्ष को लेकर-ईश्वर साक्षी तथा जीवसाक्षी भेद भी बताया ।

अतएव उपर्युक्त संदर्भ में न्यायदर्शन के प्रभाव का स्पष्ट साक्षात्कार प्रत्यक्ष निरूपण में स्पष्ट है । प्रत्यक्ष प्रमाण की भाँति अनुमान प्रमाण में भी न्यायदर्शन की

निरूपण प्रक्रिया का दर्शन धर्मराज के दृष्टिकोण में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है । जैसे- घटत्व धर्म प्रकार और अवच्छेदक पद उल्लेखनीय हैं । इसके अतिरिक्त अनुमान विषयक अन्य मतों का खण्डन ग्रन्थकार करते हैं तथा स्वमत की स्थापना करते हैं । जैसे- व्याप्तिज्ञान को अनुमिति का करण बताना और न्याय के दृष्टिकोण लिंगपरामर्श का खण्डन तथा मात्र अन्वय को मानना अनुमान के अन्य प्रकारों का खण्डन तथा व्यतिरेक को अर्थापत्ति में अन्तर्भूत प्रतिपादित करना परिभाषाकार की प्रखर मस्तिष्क की उपज है ।

आगम-प्रमाण में ग्रन्थकार शाब्दबोध में जयन्त भट्ट के विचारों तथा अभिहितान्वयवाद का समर्थन करते हैं । परन्तु विभिन्न स्थलों पर नैयायिक दृष्टिकोण को अस्वीकार भी करते हैं । जैसे- नैयायिक 'शक्ति' को पृथक् पदार्थ के रूप में अस्वीकार कर उसी के द्वारा वे पद से अर्थबोध का ग्रहण मानते हैं । परन्तु परिभाषाकार ने नैयायिकों के शक्तिवाद का खण्डन कर 'शक्ति' को पृथक् पदार्थ माना है । इस प्रकार ग्रन्थकार ने आगम-प्रमाण के विवेचन में नैयायिकों के दृष्टिकोणों का कहीं समर्थन तथा विभिन्न संदर्भों में विरोधी मतों का भी प्रतिपादन करते हैं ।

उपमान प्रमाण के विवेचन में यद्यपि ग्रन्थकार तथा नैयायिकों का दृष्टिकोण सादृश्य ज्ञान के करण को लेकर समान दिखायी पड़ता है । फिर भी प्रयोजन की दृष्टि से परस्पर विभिन्न दृष्टिकोण भी रखते हैं । जैसे- परिभाषाकार सादृश्य पदार्थ के ग्रहण के लिए उपमान को स्वीकार करते हैं, जबकि नैयायिक शक्तिग्रह के लिए । 'गवय' पद की एक विशिष्ट पशु में शक्तिग्रह कराना ही उसका प्रयोजन है । नैयायिक संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध ज्ञान को फल मानते हैं वहीं वेदान्तियों के अनुसार, गाय, गवय के सदृश है'- यह ज्ञान फल है ।

अर्थापत्ति को नैयायिक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं, अपितु अनुमान में ही अन्तर्भूत मानते हैं । ध्यातव्य है कि वेदान्तपरिभाषाकार केवल व्यतिरेकी अनुमान को स्वीकार नहीं करते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्होंने अर्थापत्ति को स्वतन्त्र

प्रमाण के रूप में प्रतिपादित किया । जबकि नैयायिक केवल व्यतिरेकी अनुमान स्वीकार करते हैं ।

वेदान्तपरिभाषाकार ने नैयायिक दृष्टिकोणों का सम्यक् विवेचन के उपरान्त अनुपयुक्त पाया । अतएव अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण प्रतिपादित कर अनुमान से पृथक् प्रमाण निरूपित किया । केवल व्यतिरेकी अनुमान को अर्थापत्ति में अन्तर्भूत सिद्ध किया । यह विश्लेषणात्मक चिंतन नैयायिक पद्धति के समीप धर्मराज अध्वरीन्द्र को पहुँचा देता है ।

परिभाषाकार तथा नैयायिकों द्वारा 'अभाव' को एक पृथक् पदार्थ स्वीकार किया गया है । दोनों ही 'अभाव' को अधिष्ठान से भिन्न मानते हैं । दोनों ही मतों में अनुपलब्धि अभाव का कारण है, पर परिभाषाकार अनुपलब्धि को 'करण' के रूप में भी स्वीकार करते हैं । नैयायिक अभाव को प्रत्यक्ष से गृहीत मानकर इन्द्रियों को अभाव ग्रहण में 'करण' मानते हैं । अनुपलब्धि के भेद में नैयायिक अत्यन्ताभाव को नित्य मानते हैं, जबकि परिभाषाकार उसे अनित्य मानते हैं, क्योंकि प्रलयकाल में ब्रह्मातिरिक्त सत्ता ही नहीं होती । अन्योन्याभाव के अनेक विभाजन- सादि तथा अनादि, सोपाधिक तथा निरूपाधिक- करके परिभाषाकार मौलिक चिंतन को भी स्थापित करते हैं । नैयायिक के दृष्टिकोण- अभाव का प्रत्यक्ष से ग्रहण- का खण्डन परिभाषाकारने अनुपलब्धि को एक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है ।

प्रमाण मीमांसा के विवेचन के पश्चात् वेदान्तपरिभाषाकार ने 'प्रमाणेतर पदार्थ' का जो विवेचन किया है उससे ज्ञात होता है कि यदि न्याय-दर्शन के प्रमेय का चरम-साध्य निःश्रेयस् की प्राप्ति है, तो वेदान्तपरिभाषा अपना परमलक्ष्य अद्वैत-वेदान्त के प्रतिपाद्य महावाक्य 'तत्त्वमसि' का जनसाधरण को बोधगम्य कराना निश्चित करती है इस प्रयोजन में दोनों दर्शनों के विचारक 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' के प्रतिमान का समर्थन करते हैं । जैसे ही अद्वैत का बोध मुमुक्षुओं को हो, इसी में परिभाषाकार का आग्रह है, प्रक्रिया में नहीं । अतएव नैयायिक 'पद्धति' के प्रति.

आग्रह परिभाषाकार को न्याय-दर्शन के आकर्षण से बाँध देती है ।

अन्त में परिभाषाकार ने प्रमा, भ्रम और प्रामाण्यवाद का विवेचन किया है । दोनों दर्शनों के 'प्रमा' विषयक अवधारण की तुलना से ज्ञात होता है कि नैयायिक आचार्यों के अनुसार प्रमा यथार्थानुभव है, जो सदैव सत्य होता है अर्थात् यथा वस्तु तथा ज्ञान है । इसलिए यह संदेह, त्रुटि, स्मृति तथा तर्क से भिन्न है । गंगेश उपाध्याय ने तद्वति तत्प्रकारकत्वानुभव (जहाँ जो है वहाँ उसका अनुभव प्रमा है।) को प्रमा माना है ।[10] इनमें से 'तद्वति' अंश 'तात्त्विक स्थिति' और 'तत्प्रकारकत्वानुभव' अंश ज्ञानात्मक स्थिति को निर्दिष्ट करता है । यदि ज्ञानात्मक स्थिति तात्त्विक स्थिति की संवादी हो तो उसे प्रमा मानना चाहिए । यदि इन दोनों पक्षों में सामंजस्य का अभाव हो तो ज्ञान अप्रमा हो जाता है । प्रो० जे०एन० महन्ती के अनुसार गंगेश उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत प्रमा की यह परिभाषा मूलतः यथार्थता (अबाधितत्व) से भिन्न नहीं है ।[11] नैयायिक आचार्य परम्परा-वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, आदि 'स्मृति' को 'प्रमा' की कोटि में नहीं रखते हैं, क्योंकि 'स्मृति' 'संस्कारजन्य' तथा 'निर्विषयक' होती है । साथ ही नैयायिक आचार्य 'धारावाहिक ज्ञान' के 'प्रमात्व' के प्रति भी अग्राह्यशील हैं, क्योंकि वे 'काल-क्षण' के प्रत्यक्ष में विश्वास नहीं रखते हैं ।

वेदान्तपरिभाषा में यथार्थ ज्ञान को प्रमा माना गया है । यथार्थ ज्ञान स्मृति तथा अनुभव भेद से दो प्रकार का है । किसी ने घट को घट समझा तो यह घट का यथार्थ ज्ञान माना जायेगा । इसी को प्रमा भी कहते हैं । इसी ज्ञान से मन में 'संस्कार' पैदा हुआ और उससे कालान्तर में घट की स्मृति हुई, यथार्थ होने से इस स्मृति को भी 'प्रमा' कहते हैं । अतएव परिभाषाकार ने प्रमा का लक्षण दो प्रकार से किया है- (1) "अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वं" तथा (2) "अबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वं" ।

अर्थात् नवीन और अबलापरहित विषय का ज्ञान यथार्थ ज्ञान है तथा अबाधित विषय का ज्ञान यथार्थ ज्ञान है ।[12.] परिभाषाकार 'धारावाहिक ज्ञान' को प्रमात्व प्रदान करते हैं, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान काल में घटित होता है, इसलिए प्रत्येक 'ज्ञान' काल से विशिष्ट होता है । इस दृष्टि से धारावाहिक ज्ञान नवीन होता है । पुनश्च, वेदान्त में न्याय-दर्शन के विपरीत काल-पदार्थ को इन्द्रियवेद्य माना गया है । तथा ज्ञान-अभेदता का प्रतिपादन भी किया गया है । अतः कहा जा सकता है कि परिभाषाकार 'प्रमा' के निरूपण में नैयायिक दृष्टिकोण 'यथार्थ अनुभव' और 'तत्प्रकारकत्वानुभव' के प्रति आग्रह रखते हैं, जो नैयायिक प्रभाव को प्रकट करता है । परन्तु परिभाषाकार द्वारा 'स्मृति' को भी प्रमा रूप मानना तथा धारावाहिक ज्ञान में प्रमात्व को अनुस्यूत निर्दिष्ट करना मौलिक गवेषणा का द्योतक है ।

नैयायिक आचार्यों ने भ्रम को अन्यथानुभव निरूपित किया है।[13.] जो नेत्र-दोष के कारण शुक्ति में आपण-स्थित 'रजत' का अलौकिक प्रत्यक्ष से संसर्ग कर देता है । शुक्ति तथा रजत दोनों का सामान्य धर्म चमकीला होना है । इसी चमकीलेपन से हमें अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा पूर्व-दृष्ट रजत का स्मरण हो जाता है । अतः हम 'इदं' का सम्बन्ध 'रजत' से जोड़कर 'शुक्ति' को 'इदं रजतं' कहते हैं ।[14.] यही अन्यथाख्याति है, जो शुक्ति को अन्य प्रकार से प्रस्तुत करती है ।

परिभाषाकार ने 'ख्याति' के प्रतिपादन में मिथ्या तथा सत्य वस्तुओं के ज्ञान में तादात्म्य को निर्दिष्ट किया है ।[15.] यह रजत है, इस वाक्य में इदमंश 'शुक्ति' व्यावहारिक दृष्टि से सत्य वस्तु है, किन्तु रजत- जिसका शुक्ति के ऊपर आरोपण किया जाता है, केवल एक मिथ्या वस्तु ही है । यह सत्य तथा मिथ्या वस्तु का तादात्म्य ही 'ख्याति' कहलाता है । परिभाषाकार अद्वैत वेदान्ती परम्परा में अनिर्वचनीय-ख्यातिवाद वहीं स्वीकार करते हैं जहाँ दूषित नेत्र वाले व्यक्ति के नेत्रन्द्रिय का पुरोऽवस्थित द्रव्य (रजत) के साथ संयोग सन्निकर्ष होने पर इत्याकारक शुक्ति रजतज्ञानाकार से परिणत होती है । परन्तु परिभाषाकार इन्द्रिय के सन्निकृष्ट आरोप्य (वस्तु) के होने पर वे नैयायिक अन्यथाख्याति का समर्थन करते हैं ।[16.]

इसीकारण जपा-पुष्प की लालिमा स्फटिक में भासित होती है । अतः स्फटिक में उसकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ती है । नैयायिक रज्जु-सर्प भ्रम में अन्यथाख्याति को मानते हैं । यद्यपि परिभाषाकार अन्यथाख्यातिवाद का समर्थन 'विषय-समीप' के संदर्भ में करते हैं, परन्तु वे अलौकिक प्रत्यक्ष को अस्वीकार करते हैं । इसका अनुमोदन अनुपलब्धि-परिच्छेद से भी होता है । अतः कहा जा सकता है कि 'ख्याति' के प्रतिपादन में परिभाषाकार ने न्याय तथा परम्परागत निकाय को मानकर अपने स्वतन्त्र-चिंतन को प्रमाणित किया है ।

नैयायिक आचार्यों ने ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य ग्राहक सामग्री के प्रवृत्ति का साफल्य या वैफल्य मूलक अनुमान से निरूपित किया है । किसी प्रामाण्य के द्वारा जलादि का ज्ञान होने पर उसके ग्रहणार्थ मनुष्य में प्रवृत्ति होती है । प्रवृत्ति होने पर यदि प्रमाण से ज्ञात जलादि की उपलब्धि होती है, तो वह ज्ञान यथार्थ होता है । प्रवृत्ति के विफल होने पर वह ज्ञान अयथार्थ होता है । ध्यातव्य है कि नैयायिक ज्ञान की ग्राहक सामग्री अनुव्यवसाय मानते हैं ।

परिभाषाकार प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के विषय में स्वतः प्रामाण्य वाद का समर्थन करते हैं अर्थात् जिसे सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी सामग्री से उसकी ज्ञप्ति भी होती है । इस प्रकार प्रामाण्य ज्ञानसामान्य की सामग्री का ही कार्य है, उसके लिए उसे अधिक गुण की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि समस्त प्रमाओं में अनुगत रहने वाला कोई गुण नहीं है ।[17] इस कारण प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणादि सामग्री से न होकर स्वतः एव होती है । इस प्रकार नैयायिक के इस मत का परिहार हो गया कि प्रामाण्य का ज्ञान परतः (अनुमान प्रमाण) से होता है ।

अप्रामाण्यवाद विषयक अवधारणा में परिभाषाकार नैयायिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए उसे परतः मानते हैं । उदाहरणार्थ रजत्वाभावान् पदार्थ में रजत्व-प्रकारक ज्ञान का होना ही अप्रामाण्य का लक्षण है, जिसे 'तद्भाववति तत्प्रकारकं

ज्ञानत्वम्' कहते हैं । इस अप्रामाण्य का ज्ञान विफल-प्रवृत्ति आदि हेतुओं से होने वाले अनुमान प्रमाण से होता है । यह अनुमान इस प्रकार होता है 'मुझे जो पहले रजत का ज्ञान हुआ था उसे अप्रमा रूप होना चाहिए, क्योंकि वह विसंवादि प्रवृत्ति का जनक हुआ है, जिस प्रकार रज्जु में पहले सर्प का ज्ञान होता है' । इस प्रकार अप्रामाण्य विसंवादि (विफल प्रवृत्ति) आदि हेतुओं से होने वाली अनुमिति आदि ज्ञानों का विषय है । तस्मात् अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है तथा परतः ही ज्ञात होता है ।

निष्कर्षतः 'प्रामाण्यवाद' के संदर्भ में कहा जा सकता है कि 'प्रामाण्य' को लेकर परस्पर भिन्न दृष्टिकोण अपनाने वाले नैयायिक तथा परिभाषाकार 'अप्रामाण्य' के प्रसंग में समान मत का प्रतिपादन करते हैं; क्योंकि दोनों ही अप्रामाण्य का निर्धारण विफलप्रवृत्तिमूलक अनुमान से करते हैं । अतएव परिभाषाकार पर न्याय-मत की छाप स्वयमेव प्रकट है ।

परतः प्रामाण्यवाद का निरूपण करने के कारण नैयायिक आचार्य वेदों का प्रामाण्य भी परतः मानते हैं । ईश्वर को वेदों का प्रणेता बताकर उसके पौरुषेयत्व का प्रतिपादन करते हैं । परिभाषाकार की गवेषणात्मक पद्धति वेद को परमेश्वरकर्तृक निरूपित करते हुए भी उसे अपौरुषेय मानती है; क्योंकि परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में पूर्वसर्ग के समय 'वेदों की सिद्धि' आनुपूर्वी के समान ही, जिसकी 'आनुपूर्वी' है, ऐसे वेद की रचना की । परिभाषाकार वेद को अपौरुषेय मानकर भी वेद को नित्य नहीं मानते हैं, क्योंकि वह उत्पत्तिमान् है और यह श्रुतिप्रमाण से भी सिद्ध है ।[18]

इस प्रकार 'वेदान्तपरिभाषा' पर न्याय- दर्शन के प्रभाव की समीक्षात्मक परीक्षा के परिणाम स्वरूप यह कहा जा सकता है कि परिभाषाकार 'प्राचीन तथा नव्य' न्याय की निरूपणात्मक प्रवृत्ति से अवश्य ही प्रभावित हैं । उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष- परिच्छेद में महर्षि गौतम की 'प्राप्यकारिता' तथा 'वेदान्त-परिभाषा' का 'तडागोदक- न्याय' तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति को परतः मानना

'विषय-बोध' को स्पष्ट कर देता है । साथ ही परिभाषाकार ने दर्शन-शास्त्र के प्रतिमान का पालन भी किया है अर्थात् परिभाषाकार ने किसी परम्परा विशेष के प्रति आग्रह नहीं दिखाया है । अपितु उन्होंने तुलनात्मक, आलोचनात्मक, गवेषणात्मक मौलिक विवेचन से दर्शनशास्त्र को विशेष रूप से अद्वैतवेदान्त को समृद्ध किया है । यथा-साक्षी, अनिर्वचनीयख्याति, मिथ्यात्व आदि का मौलिक विवेचन, ब्रह्म के साक्षात्कार में अपरोक्ष ज्ञान को मानकर उसे वाक्यजन्य निर्दिष्ट करना, 'वह्निमान् पर्वत' में पर्वतांश की प्रत्यक्षत्वव्यवस्था, शब्द से प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति महावाक्य में लक्षणा का खण्डन, स्मृति को प्रमात्व प्रदान करना आदि पक्ष परिभाषाकार के सूक्ष्म चिंतन को प्रकट करता है । परिभाषाकार की निष्पक्षता सराहनीय और उनकी महत्ता अक्षुण्ण है ।

टिप्पणी :-

1- छान्दोग्योपनिषद्, 7/1/2.

2- आचार्य उदयन- न्यायकुसुमांजलि, 1/3.

3- डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ०-146.

4- जिज्ञासु वेदान्तपरिभाषा पर टीका का श्लोक- पाँच ।

5- सदानन्द- वेदान्तसार, पृ०-36-45, तथा डा० नन्दकिशोर देवराज भारतीय दर्शन, पृ०- 72.

6- डा० मुसलगांवकर- वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ०- 399.

7- न्यायसूत्र, 4/2, 42-48 तथा न्यायभाष्य आदि

8- ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । - गीता
तुलनार्थ- " ब्रह्मविद् चाहे वह जितना अधम हो, ब्रह्म को न जानने वाले अधिक धनी और श्रेष्ठ व्यक्ति से उच्चतर है ।"
- छान्दोग्योपनिषद्, 4, 1-2.

9- डा० दीवानचन्द- पश्चिमी दर्शन ।

10- पं० गंगेश, 'तत्त्वचिन्तामणि'- प्रत्यक्ष-प्रकरण ।

11- प्रो० जे०एन० महन्ती, गंगेशास् थियोरी ऑव ट्रुथ ।

12- डा० मुसलगांवकर, वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ०- 9.

13- शिवादित्य मिश्र- सप्तपदार्थी, पृ०-25, तथा प्रो० हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ०- 252.

14- बी०एन० सिंह, भारतीय दर्शन, पृ०- 372-73.

15- डा० मुसलगांवकर, वेदान्तपरिभाषा की टीका, पृ०- 117.

16- वही, पृ०- 146.

17- जिज्ञासु, वेदान्तपरिभाषा पर टीका, पृ०-322.

18- वेदान्तसूत्र- पृ०- 265-66.

सहायक ग्रन्थों की सूची

(1) संस्कृत और हिन्दी

अमलानन्द : वेदान्तकल्पतरू, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1938.

अनन्तकृष्ण शास्त्री : परिभाषाप्रकाशिका, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1930.

अप्पयदीक्षित : सिद्धान्तलेश संग्रह, अच्युतग्रन्थमाला, काशी, 1953.

आनन्दबोध : न्यायमकरन्द:, चौखम्भा सं०सी०, वाराणसी, 1907.

अन्नंभट्ट : तर्कसंग्रह, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1910.

अभेदानन्द : न्यायप्रमाणपरिक्रमा, ओरियण्टल पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दरियागंज, नई दिल्ली, 1981.

आनन्द झा : भगवती, भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, 1953.

अमरदास स्वामीन् : मणिप्रभा, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, 1928.

आनन्द झा न : तर्कसंग्रह (संपादक श्रीत्रिपाठी)

उमा स्वाति (उमा स्वामी) तत्त्वार्थसूत्र, मैसूर विश्वविद्यालय, 1944.

उर्मिला शर्मा : अद्वैतवेदान्त में तत्त्व और ज्ञान, चन्द्रवती प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1978.

उद्योतकर : न्यायवार्त्तिक, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1916.

उदयनाचार्य : न्यायकुसुमांजलि, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी.

उमेशमिश्र : भारतीय दर्शन, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1975.

कालिदास : मालविकाग्निमित्र

कृष्णनाथ पंचानन: : आशुबोधिनी, सम्पादक-आनन्द झा, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ ।

केशव मिश्र : तर्क भाषा, चौखम्भा, वाराणसी, 1963.

कुमारिल भट्ट : श्लोकवार्त्तिक, चौखम्भा संस्करण,

किशोरनाथ झा : न्याय परिचय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी.

कल्याण : वेदान्तांक, गीता प्रेस, गोरखपुर।

कुन्दकुन्द : प्रवचनसार, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, 1913.

काशीनाथ उपाध्याय : न्यायशास्त्र की रूपरेखा, चतुर्थ संस्करण, 1972.

कृष्णकान्त चतुर्वेदी : द्वैतवेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन, विद्या प्रकाशन मंदिर, दिल्ली।

गौतम : न्यायसूत्र, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, 1936, 1934

गंगेश उपाध्याय : तत्त्वचिन्तामणि, दरभंगा, 1957.

गजाननशास्त्री मुसलगांवकर : वेदान्तपरिभाषा-टीका, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1983.

गंगाधरेन्द्र सरस्वती : स्वाराज्यसिद्धि, नटेशशास्त्री, आर्यमतसंवर्धनी, 1927.

गौड़पादाचार्य : माण्डूक्यकारिका, गीता प्रेस, गोरखपुर

गदाधर भट्टाचार्य : प्रामाण्यवादः, चौखम्भा विद्याभवन, चौक।
: शक्तिवादः, चौखम्भा विद्याभवन, चौक।

घनश्यामदास रखमल मलकानी : वेदान्तज्ञानमीमांसा, अनुवादक: शत्रुसूदन प्रसाद पाण्डे, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1973.

चित्सुखाचार्य : तत्त्वप्रदीपिका, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1931.

चक्रधर बिजल्वान : भारतीय न्यायशास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, 1983.

चन्द्रधर शर्मा : बौद्ध दर्शन और वेदान्त, बिजन विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1981.

चट्टोपाध्याय एवं दत्ता : भारतीय दर्शन, पुस्तक भण्डार, पटना।

जयन्त भट्ट : न्यायमंजरी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1936.

जगदीश सहाय श्रीवास्तव : अद्वैतवेदान्त की तार्किक भूमिका, किताब महल, इलाहाबाद, 1985.

जगदीश तर्कालंकार : तर्कामृत, कलकत्ता।

दिङ्नाग : आलम्बन परीक्षा, अनुदित, एन0 अय्यास्वामी शास्त्री, अडयार लाइब्रेरी, 1942.

दीवान चन्द : पश्चिमी दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1978.

धर्मराज अध्वरीन्द्र : वेदान्तपरिभाषा, अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, 1942.

धर्मकीर्ति : न्यायबिन्दु, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1954.

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री : भारतीय दर्शनशास्त्र, मोतीलाल बनारसी, दिल्ली, 1953.

नागेश भट्ट : परमलघुमंजूषा, हितचिंतक प्रेस, काशी, 1941.

नन्द किशोर देवराज : सम्पादक: भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1978.

: पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979.

नरेन्द्र सेन : प्रमाण-प्रमेय-कलिका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

निवास शास्त्री : न्यायबिन्दु टीका, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ.

नारायण : मानमेयोदय:, षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी.

नारायण भट्ट शास्त्री : वेदान्तपरिभाषा पर टीका भूषण, अप्रकाशित ।

पद्मपादाचार्य : पंचपादिका, सम्पादक राम शास्त्री, बनारस, 1981.

प्रकाशात्मा : पंचपादिकाविवरण, सम्पादक राम शास्त्री, बनारस, 1892.

प्रशस्तपाद : पदार्थधर्मसंग्रह, व्योमवत्यादि सहित, चौखम्भा

पाणिनि : पाणिनीयसूत्राष्टाध्यायी, सम्पादक: ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 1955.

पेद्दा दीक्षित : प्रकाशिका, वेदान्तपरिभाषा पर टीका, गवर्नमेन्ट प्रेस, त्रावनकोर, 1928.

पार्थसारथिमिश्र : श्लोकवार्त्तिक न्यायरत्नाकर टीका, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1898-99.

: शास्त्रदीपिका न्यायरत्नाकर टीका, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1913.

प्रभाकर मिश्र : बृहती-शाबर भाष्य टीका, मद्रास विश्वविद्यालय, 1934.

प्रकाशानन्द: : वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, अच्युत कार्यालय, बनारस ।

प्रभाचन्द्र : प्रमेयकमलमार्तण्ड, निर्णयसागर, बम्बई, 1939.

बादरायण : ब्रह्मसूत्र, निर्णय सागर, 1935.

भासर्वज्ञ : न्यायसार, पूना, 1922.

एम0 हिरियन्ना : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980.

माधवाचार्य : सर्वदर्शनसंग्रह, पूना, 1924.

मधुसूदन सरस्वती : अद्वैतसिद्धि:, सम्पादक-अनन्तकृष्णशास्त्री, निर्णयसागर मुद्रणालय, बंम्बई, 1937.

मण्डन मिश्र : ब्रह्मसिद्धि:, सम्पादक म0म0एस0 कुप्पूस्वामी शास्त्री, मद्रास, 1937.

श्रीराम रामकृष्णअध्वरीन्द्र: शिखामणि {वेदान्तपरिभाषा}, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस,

लौगाक्षिभास्कर : तर्ककौमुदी, निर्णय सागर बम्बई, 1928

वाचस्पति मिश्र : न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1925.

: भामती टीका {शांकरभाष्य}, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1934.

: सांख्यतत्त्वकौमुदी, गया, 1929.

विमुक्तात्मा : इष्टसिद्धि:, सम्पादक प्रो0 एम0 हिरियन्ना, बड़ौदा, 1933.

विद्यारण्य : पंचदशी, निर्णयसागर, बम्बई, 1949.

: विवरणप्रमेयसंग्रह, अच्युत ग्रन्थमाला, बनारस.

वात्स्यायन : न्यायभाष्य{न्यायसूत्र}, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, 1936-44.

विश्वनाथ न्याय पंचानन : न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, निर्णयसागर, बम्बई, 1927.

: भाषापरिच्छेद, मुक्तावली सहित {हिन्दी} व्याख्या, श्री ज्वाला प्रसाद गौड़ } ।

बद्रीनाथ सिंह : भारतीय दर्शन, स्टूडेन्ट्स फ्रेण्ड्स एण्ड कम्पनी, वाराणसी-5

विद्यानन्द जिज्ञासु : वेदान्तपरिभाषा पर टीका, ज्ञानसत्र प्रकाशन मंदिरम्, नर्मदापुरम्, 1967.

श्रीहर्ष : खण्डनखण्डखाद्य, सम्पादक पं0 चण्डीप्रसाद शुक्ल
अच्युत कार्यालय, बनारस.

: श्रीनैषधचरित, निर्णय सागर, बम्बई ।

शबरस्वामी : शाबरभाष्य, मद्रास विश्वविद्यालय, 1934.

शान्तिरक्षित : तत्त्वसंग्रह, बौद्धभारतीय वाराणसी, 1960.

शालिकनाथमिश्र : प्रकरण पंजिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1961.

श्रीधर : न्यायकन्दली, विजयनगरम् संस्कृत सीरीज, बनारस, 1895.

शंकराचार्य : ब्रह्मसूत्र भाष्य, रत्नप्रभा-भारतीय न्याय निर्णय सहित,
बम्बई, 1947.

: गीता भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर

: चतुः सूत्री, 2 भाग, नवटीकोपेत, कलकत्ता, 1933.

: विवेकचूडामणि (प्रकरणग्रन्था:), पूना, 1952.

: मुण्डकभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर

: तैत्तिरीयभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

: माण्डूक्य-भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

: उपदेशसाहस्री, गायघाट, वाराणसी, 1949.

: गीता भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

शिवदत्त : अर्थदीपिका, हरीदास संस्कृत सीरीज, बनारस ।

शिवादित्य मिश्र : सप्तपदार्थी

शारदा गाँधी : भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1975.

सदानन्द : वेदान्तसार, जीवानन्द संस्करण, कलकत्ता ।

संगम लाल पाण्डे : भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद,
1981.

: भारतीय दर्शन की कहानी, रामनारायणलाल बेनीप्रसाद,
इलाहाबाद, 1963.

सत्यदेव शास्त्री : भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन, भारत भारती, वाराणसी, 1978.

हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी.

हरिमोहन झा : दार्शनिक विवेचनाएँ, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1973.

हरिदास बन्द्योपाध्याय : भारतीय दर्शन की मर्मकथा, स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स, इलाहाबाद, 1964.

हेमचन्द्र : प्रमाणमीमांसा, कलकत्ता, 1939.

हरिभद्र : षड्दर्शन-समुच्चय, गुणरत्न की टीका सहित, कलकत्ता,

हिन्दी-दर्शन-पत्रिका

1. जे० पी० अवस्थी का 'तत्त्वज्ञान' पर लेख, संदर्शन, भाग-8, 1982.
2. मदन मोहन त्रिवेदी का 'प्रमा का स्वरूप' पर लेख, संदर्शन भाग-20, 1994-95.
3. विद्यानिवास मिश्र का लेख 'सा विद्या या विमुक्तये', नभाटा, नई दिल्ली, 18 सितम्बर, 1994.
4. स्वयं प्रकाश पाण्डेय का लेख 'महादेवन् और अद्वैत', संदर्शन, भाग-9, 1983.
5. डा० हरिशंकर उपाध्याय का लेख 'प्रमा का स्वरूप', संदर्शन, भाग-20, 1994-95.

(2) ENGLISH BOOKS

Ashuttosh Bhattacharya : Studies in Post- Sankar Dialectics Calcutta-1936.

A.K. Gupta : Jivatman in the Brahmasutra, 1921.

A.J. Ayer : Language, Truth and Logic, 1958.

A.N. Whitehead : Process and Reality.

B.K. Sen Gupta : A critique on the Vivarana school, Calcutta,1959.

B. Kar : The theories of Error in Indian philosophy:An Analytical study,New Delhi, Ajaanta Publications, 1978.

B.K. Matilal : Perception, Oxford, 1955.

B. Russell : The Analysy of Mind, London, 1921.

C.D. Sharma : A critical survey of Indian philosophy, New Delhi, Motilal Banarsidass, 1976.

D.M. Datta : The six ways of knowing,Calcutta, University of Calcutta, 1972.

F.H. Bradley : Appearence and Reality, 1955.

G.R. Malkani : Metaphysics of advaita Vedanta,

: Indian Institute of philosophy,Amalner.

G.C. Nayak : The philosophy of Sankaracharya- A reppraisal, Cuttack, 1978.

Ganga Nath Jha : Shankra Vedant,Allahabad, 1939.

: Purva Mimansa in its sources, Banaras Hindu University, 1943.

G.Mishra : Analytical studies in Indian Philosophical Problems, Bhubaneswar, 1971.

G. P. Das : Vedanta Paribhasha an Analytical study, Meerut, 1986.

G. Ryle : 'Pereplion' London, 1969

: Thories of Meaning, II, 1957

Jwala Prasad : History of Indian Epistemology, lahore, 1939.

Jadunath Sinha : History of Indian Philosophy, Calcutta University, 1956.

J.S. Mill : A System of logic.

J.N. Mohanty : Gangesha's Theorey of Truth, Visva-Bharati-Shantiniketan, 1969.

J.B. Bhattacharya : Negation, Calcutta, Indian Studies: Past and Future, 1965.

K.C. Bhattacharya : Studies in Philosophy, Calcutta, 1961.

Kokileshwer Shastri : An Introduction to Advaita Philosophy, Calcutta, 1925.

L. Wittgenstein : Philosophical Investigations, (Tr.) G.E.M. Anscombe, Oxford, 1976.

M. Eiriyanna : Indian Philosophical studies, Mysore, 1957.

M.T. Taliwala : How for Sankar Represents the view of Sutrakar, Bombay, 1918.

M.S. Tripathy : A Shetch of the Vedanta Philosophy, Bombay, 1927.

N.M. Shastri : A Study of Sankar, Calcutta, 1942.

P.F. Strawson : 'Individuals' An Essay in Descriptive Metaphysics, London, 1964.

Paul Deussen : The System of Vedanta, Motilal Banarsi Das, Varanasi.

P.D. Shastri : The Doctrine of Maya , London, 1911.

P.N. Mukhopadhyaya : Introduction to Vedanta Philosophy, Calcutta, 1928.

R.D. Karmarkar : Gaudpada Karika, Poona, 1953.

Satischandra Chatterjee : The Nyaya theory of Knowledge, Calcutta, 1939.

SatisChandra Vidya Bhusana : History of Indian logic, Calcutta, 1921.

S. RadhaKrishnan : Indian philosophy, 2 Volumes, Bombey, Blackie and Son Pvt. Ltd., 1977.

Swami Madhwanand : Vedanta- Paribhasa, Advaita Ashram Calcutta.

Shiv Kumar : Upmana in Indian philosophy, Eastern Book Linkers, Delhi.

T.M.P. Mahadevan : The philosophy of Advaita, Madras, 1957.

Vidhushekhar Bhattacharya : The Agama Sastra of Gaudapada, Calcutta, 1943.

ENGLISH JOURNALS

B.K. Sengupta : "The problem of Nacre-Silver(Sukti-Rupya) in Indian Philosopy", The Indian Historical Quarterly, Vol. XXVIII, No.2, June, 1952.

H. Mishra : "Adhyasa in Advaita Vedanta", Indian Philosophical Quarterly, New Series, Vol. VIII, No.3, April, 1981.

Hermann Jacobi : Dates of the Philosophical sutras of the Brahmanas, Journal of the American Oriental Society (New Haven) Vol. XXXII, 1911.

J.N Mohanty : "Meaning and Truth", The Visva-Bharati Journal of Philosophy, Vol. 1, No.1, August, 1964.

N,K, Devaraj : "Contemporary Relevance of Advaita Vedanta", Srimant Pratap Seth Lecture on Vedanta, Proceedings of the Indian Philosophical Congross B.H.U., 1967.

R.R. Dravid : "Pramanyavada", Indian Philosophical Quarterly, New Serics, Vol. IV.2, January, 1977.

S.R. Bhatt : The Concept of Negation (Nisedha) "Indian Philosophical Quarterly, New Sericw, Vol.V, No.III, April, 1978.